आधुनिक भारत के निर्माता

महादेव गोविन्द रानडे

पी. जे. जागीरदार

अनुवादक

शकुन्तला माथुर

प्रथम संस्करण : मई 1981 : वैशाख 1903

© प्रकाशन विभाग

मूल्य : 14.50

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय,
भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित

विक्रय केन्द्र ○ प्रकाशन विभाग

सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038
8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700001
एल0एल0ए0 आडीटोरियम, 736, अन्नासलै, मद्रास-600002
बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004
निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस, रोड, त्रिवेन्द्रम-695001
10बी0स्टेशन रोड, लखनऊ-226004
नईदुनिया प्रिन्टरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर द्वारा मुद्रित

इस पुस्तकमाला के विषय में

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य भारत के उन लब्धप्रतिष्ठ पुत्रों और पुत्रियों का जीवनचरित प्रकाशित करना है, जिनका राष्ट्रीय पुनरुत्थान और स्वतंत्रता संग्राम में विशेप योगदान रहा है। वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए इन महान विभूतियों के विषय मे जानना आवश्यक है। मगर कुछ को छोड़कर, किसी की प्रामाणिक जीवनी प्राप्त नहीं है। इसी कमी को पूरा करने के लिए इस श्रृंखला का आयोजन किया गया है। इसमें योग्य और सुविज्ञ व्यक्तियों द्वारा छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में लिखी गईं हमारे महान नेताओं की संक्षिप्त एवं सरल जीवनियां हैं। इस श्रृंखला की पुस्तकें आमतौर से 200 से 300 पृष्ठों तक की हैं; और वे न तो विस्तृत अध्ययन के लिए हैं और न विस्तृत जीवनियों का स्थान लेने के लिए ही लिखी गई है।

अभीष्ट होने पर भी, इन जीवनियों को काल-क्रमानुसार प्रकाशित नहीं किया जा सका है। इन जीवनियों को लिखने का काम उन्ही व्यक्तियों को सौंपा जाता है, जो उन महान व्यक्तियों के जीवन से पूर्णरूप से परिचित हैं। व्यावहारिक रूप से, सम्भव है कि उनमें ऐतिहासिक क्रम न मिल सके; किन्तु आशा है कि थोड़े ही समय में सभी महान राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियां इस श्रृंखला में सम्मिलित हो जाएंगी।

इस पुस्तकमाला के प्रमुख सम्पादक श्री आर० आर० दिवाकर हैं।

जो पुस्तकें छप चुकी है और जो छप रही हैं उनकी सूची पुस्तक के अन्त में ही दी गई है।

प्राक्कथन

रानडे एक असाधारण बुद्धिजीवी थे। उनके ज्ञान और बुद्धि से प्रभावित होकर मैंने 'स्टडीज इन दी सोशल थाट आफ एम० जी० रानडे' नामक पुस्तक लिखी, जो सन् 1963 में प्रकाशित हुई। उस समय रानडे का जीवनचरित लिखने का मेरा कोई इरादा नहीं था। मैं 'आधुनिक भारत के निर्माता' पुस्तकमाला के सम्पादक का आभारी हूं, जिन्होंने यह लिखने के लिए मुझे प्रेरित किया। पिछली पुस्तक में मेरा लक्ष्य था रानडे के विचारों को प्रकाश में लाना। लेकिन इस पुस्तक में मैंने उन्हें मनुष्य के रूप में निरूपित किया है। रानडे विचारशील अधिक और क्रियाशील कम थे। इसलिए यह स्वाभाविक है कि इस पुस्तक में भी सामान्य पाठक को उनके विचारों की झलक दिखाई जाए।

सबसे पहले प्रो० एन० आर० पाठक ने महादेव गोविन्द रानडे की विस्तृत और ब्यौरेवार जीवनी लिखी। उनके बाद के सभी जीवनी-लेखक उनके कृतज्ञ हैं, क्योंकि उन्हें सम्बद्ध प्रामाणिक तथ्य प्राप्त करने में समय और शक्ति नहीं लगानी पड़ी। मैंने और भी बातों का पता लगाने के लिए उनसे लम्बी बातचीत की, और उन्होंने इस विषय पर अपने ज्ञान का विस्तृत भण्डार उदारता से मेरे सामने खोल कर रख दिया। जे० केलोक और टी. वी. पार्वते ने भी अंग्रेजी भाषा में रानडे की जीवनियां लिखी हैं। वे दोनों बहुत उपयोगी सिद्ध हुईं, और विशेष रूप से, श्री पार्वते से तो, जब भी मैंने कोई सहायता मांगी तभी उन्होंने बड़ी विनम्रता से दी। श्रीमती रमाबाई रानडे के साहित्यिक सौन्दर्य से परिपूर्ण 'पत्नी के संस्मरण'

का अंग्रेजी में सुन्दर अनुवाद श्रीमती कुसुमावती देशपांडे ने किया है, उसका मैंने रानडे के जीवन के पारिवारिक पक्ष का चित्रण करने में उसका बहुत उपयोग किया है।

'सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी' के डा. ककडे, पुणे में मुझे वहां ले गए जो किसी समय रानडे का घर था। वह मुझे लार्ड री इंडस्ट्रियल म्यूजियम भी ले गए, जहा रानडे की कई चीजें सुरक्षित रखी हुई हैं। बम्बई मे 'न्यू ला कालेज' (रूपारेल) के प्रोफेसर एम. एस. विद्वांस ने भी, जिनकी माता रानडे की दत्तक पुत्री थी, कृपापूर्वक मुझे कुछ ऐसे तथ्यों से अवगत कराया जो अन्यथा उपलब्ध नहीं थे।

इन सभी महानुभावों और रानडे की जीवनी के सभी पहले लेखकों के प्रति कृतज्ञ हूं।

पी० जे० जागीरदार

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रस्तावना

महादेव गोविन्द रानडे का जन्म सन् 1842 म हुआ और सन 1901 में उनकी मृत्यु हो गई। उनसे पहले होने वाले—बंगाल की विभूति राजा राममोहन राय और महाराष्ट्र के बालशास्त्री जम्बेकर और दादाभाई नौरोजी की जीवनियों की भांति ही, आज के भारतीय को रानडे की जीवनी इसलिए रुचिकर मालूम होती है, क्योंकि उन्होंने पश्चिम के सम्पर्क से नवीन जीवन प्राप्त करने वाले उदीयमान भारत का महान स्वप्न देखा था। उनका वह स्वप्न अपने पूर्ववर्ती लोगों के स्वप्न से अधिक पूर्ण था। उन्होंने अपने उस स्वप्न को जोशीले और पांडित्यपूर्ण भाषणों द्वारा अपने समकालीनों तक पहुंचाया तथा उसे साकार बनाने के लिए उनका पथ-प्रदर्शन किया। जिस अस्तव्यस्तता के धुंधलके में उनका जन्म हुआ था, उसे देखते हुए कहना होगा कि वह सचमुच साहसपूर्ण था। अंग्रेजों की विजय से उस समय के हथियारबंद महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञों के अन्तहीन विवाद और परस्पर लड़ाइयों तथा सदियों पुरानी अराजकता का तो अन्त हो गया लेकिन एक विदेशी जाति के द्वारा शासित होने के कारण लोगों के मन में दीनता की भावना भी घर कर गई। नए शासन ने देश में सुधार भी किए, जैसे—कानून को व्यवस्थित किया, सड़कें बनवाईं और रेलें चलाईं, लेकिन कर बहुत भारी और कष्टप्रद लगाए। पानी के जहाजों और रेलों के द्वारा विदेशों में बना सामान कम कीमत पर देश में लोगों को मिलता था, लेकिन विकसित देशों के साथ इस व्यापारिक सम्पर्क से देश की दीनतापूर्ण आर्थिक स्थिति और कष्टों में कुछ कमी नहीं आई। पश्चिमी शिक्षा से ज्ञान के नए आयाम सामने आए। पर इस ज्ञान का लाभ कुछ सौ लोगों तक ही सीमित रहा। अधिकांश लोग अंधविश्वासों और अज्ञान

में ही डूबे रहे। कुछ पढ़े-लिखे लोग ईसाई धर्म की मानवीयता की भावना की प्रशंसा करते थे तथा पश्चिम में विज्ञान ने कैसी-कैसी महान उपलब्धियां प्राप्त कर ली हैं, यह जानकर उनसे प्रभावित होते थे, लेकिन अधिकतर लोगों को विदेशियों के धर्म से डर लगता था और सोचते थे कि विज्ञान से हिन्दू धर्म की नींव हिल जाएगी।

स्त्रियों को अलग और अधीन बना कर रखने, बाल विवाह, प्रथा विधवा विवाह निषेध, अस्पृश्यता और जाति प्रथा जैसी कठोर परम्पराएं देश के धार्मिक और सामाजिक जीवन में पूर्णरूप से व्याप्त हो गई थीं। यह समझ में नहीं आता था कि लोगों के लिए विदेशी प्रभाव वरदान था या अभिशाप।

राजनीति में कुंठा और उदासीनता, अत्यधिक गरीबी, अन्ध-विश्वासों का आधिक्य, असीम अज्ञान और हानिकारक रीति-रिवाजों से चिपके रहना आदि ऐसी बुराइयां थी जिनमें किसी प्रकार का सुधार करने की कोशिश करना निराशाजनक ही था। अपनी किशोरावस्था में रानडे पाश्चात्य ज्ञान प्राप्त करने में लग गए। उसमें जो भी कुछ अच्छा था उसे प्राप्त करने के बाद वह भारत के व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक व्यवहार के पूरे ढांचे का अध्ययन करने और जांचने में लग गए। उन्होंने बौद्धिक उत्कृष्टता, नैतिक सत्यनिष्ठा और अत्यधिक परिश्रम से जनता की सेवा की, जिसके फलस्वरूप थोड़े ही समय में उन्हें विश्वव्यापी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। 1901 में मृत्यु से पहले 30 वर्षों तक भारत की सार्वजनिक सभाओं और सम्मेलनों में सदा ही, लम्बे, भारी बदन के, गोरे, छोटी नाक लेकिन बड़ी-बड़ी मूछों वाले, पुणे की पगड़ी और लम्बा काला कोट पहने तथा कंधों पर उपरना डाले रानडे उपस्थित रहते थे। जिन लोगों ने बाद में उनकी नीतियों का विरोध किया और उनके विचारों से सहमत नहीं हुए, वे भी उन्हें बहुत प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते थे। सचमुच वह आधुनिक भारत के देवदूत थे।

अध्याय 1

पृष्ठभूमि और बाल्यावस्था

(1842–1856)

रानडे लोग सह्याद्रि पर्वत और अरब सागर के मध्य स्थित कोंकण नाम की संकरी पट्टी में रहने वाले चितपावन ब्राह्मणों के वंशज थे। हजारों वर्षों तक चितपावन लोग बड़ी सादगी से कोंकण में अपना जीवन बिताते और पंडिताई करते रहे। वे वहां की अपेक्षाकृत कम उपजाऊ भूमि से ही अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करते रहे। जब महाराष्ट्र में शिवाजी के राज्य की स्थापना हुई तो कुछ चितपावन कोंकण से उनके राज्य में आए। लेकिन उनकी संख्या बहुत कम थी। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में एक ऐसी घटना घटी जिससे इस सम्प्रदाय के इतिहास ने एक नया मोड़ ले लिया। कोंकण के एक भाग श्रीवर्धन पर जंजीरा के सिद्दी कहाने वाले अबीसीनिया के एक मुसलमान शासक का राज्य था और जानोजी विश्वनाथ नामक एक चितपावन उस क्षेत्र का देशमुख था। इस शासक से मराठों की सदा लड़ाई होती रहती थी। सरदार आंग्रे ने इस देशमुख को अपने साथ मिला लिया। जब सिद्दी को यह बात मालूम हुई तो वह बहुत क्रोधित हुआ। उसने जानोजी को बोरे में भरवा दिया और उसे सीकर गहरे समुद्र में फिकवा दिया। जानोजी का भाई बालाजी विश्वनाथ अपने मित्र के साथ अपनी जान बचाने के लिए वहां से भागा। पहाड़ पार करके वह सतारा पहुंचा और मराठों के यहां, जो स्वयं भी युद्ध में संलग्न थे, एक छोटी-सी नौकरी कर ली। धीरे-धीरे वह राजा साहू का विश्वासपात्र

बन गया जो सन् 1708 में गद्दी पर बैठा था, प्रशासक, राजनीतिज्ञ और योद्धा के रूप में अपनी योग्यता के कारण निरन्तर उन्नति करता रहा और अन्त में पेशवा यानी मुख्यमन्त्री बन गया। उसके बाद उसके स्थान पर उसका बेटा बाजीराव प्रथम नियुक्त किया गया। बाजीराव ने इतनी योग्यता से काम किया कि वह और उसके उत्तराधिकारी मराठा राज्य के वास्तविक शासक बन गए। इससे कोंकण के लोगों को प्रेरणा मिली और वे इस शासन से संरक्षण पाने की आशा करने लगे। पेशवा के शासनकाल में विशेष रूप से अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में, कोंकण में दक्षिण के पठार में चितपावनो का आना एक मामूली-सी बात हो गई थी। चितपावनों के जो गुरु अभी तक किसी को मालूम नही थे, वे अब प्रकाश में आए। पेशवा ने उन्हें सुअवसर प्रदान किया और बाद में अंग्रेजो ने भी उन्हें कार्य करने के मौके दिए। तब से अब तक चितपावन सम्प्रदाय बडी संख्या में, असाधारण बुद्धिमान, परिश्रमी, और अध्यवसायी व्यक्ति, भारतीय समाज को प्रदान करता रहा है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे रत्नागिरि जिले के चिपलूण तालुक के मोभार-पचेरी अथवा पचेरिसारा नामक गांव था। भगवन्तराव रानडे नामक एक चितपावन, कोंकण छोड कर पूर्व के धनी देश में अपना भाग्य आजमाने के लिए चल पडा। वह पंढरपुर के पास कारकम्ब में आकर रहने लगा। वह ज्योतिष विद्या का प्रकाण्ड पंडित था। उसकी पत्नी धार्मिक वृत्ति की थी। बारह वर्ष तक वह अश्वत्थ-वृक्ष और गौ-माता की पूजा और कठिन तपस्या करती रही और यह प्रार्थना करती रही कि उसके बच्चे जीवित रहें। उसकी तपस्या सफल हुई। उसके इकलौते बेटे भास्करराव ने बड़े होकर सांगली रियासत के शासक के यहां नौकरी कर ली। पहले तो वह फौज की पल्टन का नायब बना और बाद में शासक का हैडक्लर्क। उसके

बाद सांगली के शासक ने उसे ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार में वकील के पद पर नियुक्त करवा दिया। वह अपनी ईमानदारी और निष्कपटता के लिए प्रसिद्ध था। सांगली के शासक ने उससे प्रसन्न होकर उसे एक जागीर दे दी। वह खूब लम्बा-चौड़ा था और उसका स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा था। 95 वर्ष की आयु तक उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहा। उसका बड़ा बेटा अमृतराव तात्या भी अपने पिता की भांति ही खूब लम्बा-चौड़ा और तगड़ा था। उसने अंग्रेजों की नौकरी की और बाद में मामलतदार का पद प्राप्त किया। वह अच्छा घुड़सवार था। संस्कृत का भी पंडित था और शास्त्रों का उसे अच्छा ज्ञान था। 'पुरुष सूक्त' की उसने एक टीका भी लिखी। उसे ज्योतिष का भी ज्ञान था। उसके चार बेटों में से एक ने, जिसका नाम गोविन्दराव था, और जो महादेव गोविन्द रानडे का पिता था, अंग्रेजों के यहां नौकरी कर ली। बाद में कई वरिष्ठ लोगों की सिफारिश पर उसे कोल्हापुर राज्य में नौकरी मिल गई। वहां अवकाश प्राप्त करने तक उसने कई बड़े-बड़े पदों पर काम किया।

श्रीमती रमाबाई रानडे ने लिखा है, "रानडे सम्प्रदाय के पुरुष लम्बे, प्रतिभाशाली, हृष्ट-पुष्ट, बहादुर, परिश्रमी और उदार हृदय थे।" यद्यपि अब वे पंडिताई का धंधा नहीं करते थे, फिर भी वंश-परम्परा के अनुसार वे हिन्दू रीति-रिवाजों और कठिन धार्मिक अनुशासन को मानते थे और हिन्दू धर्म का ज्ञान रखते थे। उस परम्परा में प्रशासनिक सेवा (नौकरी) मिल-जुल गई थी। अंग्रेजों की नौकरी करते हुए रानडे परिवार की दो पीढ़ियों ने मालगुजारी और न्यायिक प्रशासन का कार्य अत्यन्त ईमानदारी से किया और उसकी व्यवस्था को बिलकुल ठीक कर दिया। इस प्रकार निष्ठा से काम करते-करते उनमें अंग्रेजी राज के प्रति केवल अभिरुचि ही

नहीं हुई बल्कि वे उसके प्रति वफादार भी हो गए। एक बार कोल्हापुर के विद्रोही सरदारों ने गोविन्दराव को पकड़ कर उनकी बेइज्जती करनी चाही। पर वह बाल-बाल बच गए क्योंकि ऐन वक्त पर अंग्रेजी सेनाएं उनकी रक्षा के लिए पहुच गईं और उन्हें मुसीबत से बचा लिया। रानडे लोगों ने भारतीयों के उस नए समाज में प्रवेश पा लिया था, जिसे अंग्रेजों ने बनाया था और जिसके माध्यम से वे जनता से सम्पर्क करते थे और उस पर शासन करते थे। इसी समाज के द्वारा सरकार के अच्छे और बुरे कार्यक्रमों का संचालन होता था। इस समाज के सब लोग ईमानदार न थे, पर रानडे लोग ईमानदार थे।

महाराष्ट्र के नासिक जिले के निफाड नामक स्थान पर 18 जनवरी, 1842 को मंगलवार के दिन महादेव गोविन्द रानडे का जन्म हुआ। पहले उनका नाम माधव रखा गया, लेकिन बाद में लोग उन्हें महादेव कहकर पुकारने लगे। उन्हें स्वयं भी यही नाम पसन्द था। उनके पिता गोविन्द राव उस समय ममलतदार के हैडक्लर्क थे। उन्हें लगभग 35 रुपया माहवार तनखाह मिलती थी, जो उन दिनों साधारण रूप से जीवन यापन करने के लिए पर्याप्त थी। और अब उनकी तरक्की भी होने वाली थी।

गोविन्दराव का बड़ा अफसर उनके काम से बहुत प्रसन्न था। इसलिए उसने सिफारिश करके लगभग 2॥ वर्ष बाद ही उन्हें कोल्हापुर राज के कारभारी के दफ्तर में पेशकार बनवा दिया। कुछ ही दशकों पहले कोल्हापुर अंग्रेजी राज के नियन्त्रण में आ गया था। उस समय उनकी पत्नी गोपिकाबाई गर्भवती थीं। इसलिए निफाड में अपनी पत्नी और पुत्र को अपनी माता के पास छोड़ कर वह स्वयं अकेले ही कोल्हापुर चले गए। उनकी पत्नी ने एक बालिका को जन्म दिया जिसका नाम दुर्गा रखा गया। समय आने पर गोपिकाबाई अपने

ससुर के पास अम्बेगांव गई और फिर वहां से कोल्हापुर चली गई। उस समय तक रेलगाड़ियां नही चली थी, इसलिए यात्रा बैलगाड़ी से ही की जाती थी। सड़कें भी उस समय वहुत खराव थी। गोपिकावाई तीन वर्ष के महादेव और छोटी वच्ची दुर्गा को साथ लेकर बैलगाड़ी से यात्रा पर चली। एक चपरासी पैदल गाड़ी के साथ-साथ गया और उनका एक रिश्तेदार विठू काका घोड़े पर सवार होकर उन्हें पहुचाने गया। रास्ता खेतों, जंगलों, पहाड़ों और घाटियो में होकर जाता था। गर्मियों के दिन थे, और यात्रा रात में ही होती थी। एक दिन शाम को जव ये लोग चले तो चपरासी थका होने के कारण गाड़ी पर चढ़ गया और गाड़ीवान के वरावर बैठ गया। पीछे गोपिकावाई अपनी वच्ची दुर्गा को गोद में समेटे बैठी थीं। महादेव गाड़ी के एक किनारे पर कम्वल ओढ़े हुए सो रहा था। रात अंधेरी थी और गाड़ी चली जा रही थी। ठंडी हवा और गाड़ी की चरर-मरर चूं की धीमी आवाज से गाड़ीवान समेत सभी को नींद आ गई। लेकिन बैल अपनी रफ्तार से धीरे-धीरे गाड़ी को खींचते चले जा रहे थे। तभी गाड़ी को एक धक्का लगा और महादेव गाड़ी में से फिसल कर नीचे जा पड़ा। गहरी नीद के वश होने के कारण तथा गाड़ी की चरर-मरर के कारण किसी को पता ही नही चला कि क्या हो गया। अंधेरी रात में जंगल के बीच सुनसान सड़क पर महादेव जहां गिरा था वही पड़ा रहा। वहुत से कपड़ों में लिपटा होने के कारण उसके कही भी चोट नही लगी। वह न रोया, न चिल्लाया। चुपचाप राह में पड़ा-पड़ा इन्तजार करता रहा और इस प्रकार लगभग आधा घंटा वीत गया। तव उसने देखा कि विठू काका घोड़े पर चढ़े चले आ रहे हैं। महादेव ने उन्हें देखकर पुकारा; "विठू काका, मैं यहां गिर गया हूं।" विठू काका ने घोड़े से उतर कर वच्चे को उठा लिया और आगे जाकर उसकी मां को देकर उन्हें आश्चर्यचकित कर दिया।

तीन वर्ष के बच्चे में इस प्रकार की खामोशी और शान्ति होना, बडी आश्चर्यजनक बात थी । इस घटना के बाद रानडे बहुत ही खामोश रहने लगे । घरवालों और मित्रों ने इस चुप्पी का यही अर्थ लगाया कि बच्चा बुद्धिहीन है, इसीलिए चुप रहता है । पन्द्रह वर्ष की आयु तक, जब तक रानडे कोल्हापुर में रहे, सामान्य योग्यता के ही समझे जाते रहे । वह स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट तो थे लेकिन सुन्दर नही थे । ऐसे चुप्पे, संकोची और प्रभावहीन इकलौते बेटे को देखकर उसकी मां को बडी निराशा होती थी । निराश होकर कई बार वह कहा करती थी, "मुझे तो विश्वास नहीं होता कि महादेव अपने और अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए कभी दस रुपये भी कमा सकेगा ।" यह विश्वास तब और भी पक्का हो गया जब यह मालूम हुआ कि उसके बोलने में खराबी है । बारह वर्ष की आयु तक वह अनेक शब्दों का साफ उच्चारण नही कर पाता था । जब वह परीक्षा में पास हो जाता, तो घर पर किसी को न बताता । जब दूसरे लोगों से घरवालों को पता चलता तो वे यही समझते कि वह बुद्धू और साधारण है । जब उससे यह पूछा जाता कि तुम अपने पास होने की खुशखबरी क्यों नही सुनाते, तो वह कह देता, "परीक्षा पास करने में कौन-सी खास बात है ? जब हम साल भर पढ़ते हैं तो यह स्वाभाविक है कि हम परीक्षा में पास हों ।" इससे मालूम होता है कि वह मूर्ख नही थे, संकोची थे । वह अपनी सभी परीक्षाओं में अच्छी तरह और आसानी से पास होते चले गए ।

अपने दैनिक जीवन में रानडे अपने लडकपन में ही नियमपूर्वक काम करने के आदी थे । एक बार जो दिनचर्या बन जाती उसी के अनुसार सब छोटे-बडे काम रोज होते रहते थे । लोग उनका मजाक भी उडाते थे पर उन्हें इसकी कोई चिन्ता नही थी । उन्हें लीक पीटने की आदत थी सो पीटते रहते थे । कुछ महीनों तक एक ऐसा नियम-

सा बन गया था कि जब दस बजे सुबह वह स्कूल से घर वापस आते थे तो उनकी माता एक बर्तन में से गरम-गरम घी उनकी रोटियों पर चुपड़ कर उन्हें खाने को दिया करती थी। एक बार ऐसा हुआ कि घर में घी खत्म हो गया। उनकी माता ने दूसरे बर्तन मे से मक्खन निकाल कर उनकी रोटियों पर चुपड़ दिया। लेकिन महादेव किसी भी तरह रोटियां खाने के लिए राजी नही हुए। अन्त में घी के बर्तन में ही थोड़ा-सा पानी डाल कर उसे गर्म करके रोटियों पर डाल कर उन्हें दिया गया। पानी से चुपड़ी रोटियां उन्होंने खुशी से खा ली। इस प्रकार नियम-पालन की उन्हें धुन-सी थी।

लड़कपन में उन्हें कुछ भी कहने या याद दिलाने की जरूरत नहीं थी। अपने कर्त्तव्यों का उन्हें खूब ज्ञान था। उनकी दिनचर्या के विषय में उनकी चाची ने उदाहरण के तौर पर एक छोटी-सी बात बतलाई थी। उसका वर्णन उनकी पत्नी ने अपने संस्मरणों में इस प्रकार किया है: "सुबह वह स्कूल जाते थे। वहां से वापस आकर नाश्ता करते और फिर अपनी बहन दुर्गा के साथ 'सागरगोटी' (लड़कियों का एक खेल) खेलते थे और फिर नहाने जाते थे। नहाते समय पहला लोटा सिर पर डालते ही 'पुरुष सूक्त' का पाठ करना शुरू कर देते। नहाने के बाद अपनी विस्तृत संध्या-पूजा करते। अपने कार्यक्रम में उन्हें कोई भी विघ्न सहन नहीं होता था। एक बार जब वह संध्या कर रहे थे तो किसी वृद्ध रिश्तेदार ने पूछ लिया कि "तुम यह किस चीज का पाठ करते हो?" रानडे ने उत्तर तो दे दिया। लेकिन उनकी पाठ की कड़ी टूट गई और वह भूल गए कि आगे उन्हें क्या बोलना है। बहुत याद करने पर भी याद नहीं आया। संध्या छोड़ते भी न बनती थी और वह स्वयं फिर से शुरू से करना भी न चाहते थे। फिर जिस वृद्ध ने बीच में उन्हें टोका था उन्ही से उन्होंने वहां से वह पूरी संध्या कहलवाई जहां वह रुक गए थे। संध्या तो पूरी

होनी ही थी और होनी चाहिए भी थी; लेकिन दूसरों की गलती के कारण वे क्यों इतनी लम्बी संध्या फिर से कहने के दण्ड के भागी बनें।

खेलते समय यदि रानडे हार भी जाते थे तो हँसी-मजाक मे टाल जाते। एक बार पांसे के खेल में जब उन्हें कोई साथी नही मिला तो एक लकडी के खंभे को ही साथी मान कर खेलना शुरू कर दिया। एक हाथ से अपने लिए और दूसरे हाथ से खंभे के लिए पांसा डालते थे। अन्त में खंभा जीत गया और वह स्वयं हार गए। बाद में जब लोगों ने चिढ़ाया कि तुम तो खंभे से भी हार गए तो उन्होंने उत्तर दिया कि खंभे का दांव आ गया तो वह जीत गया; मेरा दांव नही आया तो मैं हार गया। इसमें बेइज्जती की क्या बात है? पांसे और सागरगोटी जैसे कमरे के अन्दर खेले जाने वाले खेलों की भांति ही रानडे शायद मैदान में खेलने वाले खेल भी खेलते होंगे। लेकिन उनका कहीं कोई जिक्र नही मिलता है।

रानडे को स्वभावतः आडम्बर से घृणा थी। त्योहारों पर जब उनकी माता उन्हें हाथों में कड़े या गले में माला वगैरा पहनाती थीं तो कड़ों को वह अपने कुरते की आस्तीनों मे और माला को गले में धोती डालकर छिपा लेते थे। मां से कुछ कह न पाते थे, लेकिन गुस्सा उनके चेहरे से ही झलकता था। जब उनसे पूछा जाता कि तुम मूर्खों की तरह अपने आभूषण क्यों छिपा लेते हो? तो वह कहते, "मधुकरियों (अनाथ और गरीब विद्यार्थी, जिन्हें धर्मात्मा लोग भोजन देते है) के पास तो कोई आभूषण नही होता।" स्पष्ट है कि वह यह समझते थे कि आभूषण पहनने से बड़ी तड़क-भड़क आ जाती है। उनका ख्याल था कि गरीब विद्यार्थी उनके सीधे-सादे रहने पर ही उनसे मिल-जुल सकेंगे। वह समझते थे कि उनमें और गरीब विद्यार्थियों मे कोई मौलिक अन्तर नही है।

उस जमाने में बच्चे अपने पिता से बिना आज्ञा बातचीत नहीं कर सकते थे। लेकिन गोविन्द राव ने अपने बेटे के साथ कभी सख्ती नहीं बरती और न कभी उन्होंने डांटा ही। लेकिन उस समय के रिवाज और अपने संकोची स्वभाव के कारण बेटा सदा बाप से दूर ही दूर रहा। घर में केवल उसकी छोटी बहिन दुर्गा ही उसकी साथिन थी। इकलौता बेटा होने के कारण मां हर समय उसका ख्याल रखती थी और यह सोचती रहती थी कि वह बड़ा हो जाए। वह उसकी कमियों के कारण चिन्तित भी रहती थी। गोविन्दराव के भाई की पत्नी भी इन लोगों के साथ ही रहती थी। यद्यपि उन लोगों का रहन-सहन सादा था, पर वे आराम से रहते थे। गोविन्दराव की अच्छी आमदनी थी और वह दिल खोल कर खर्च करते थे।

रानडे का परिवार सरकारी मकान की निचली मंजिल में रहता था। पहली मंजिल पर कीर्तने का परिवार रहता था। जनार्दन हरि कीर्तने कारभारी था और गोविन्द राव उसके ही दफ्तर में कोर्ट रीडर थे। दोनों परिवारों में बड़ी मित्रता हो गई और वे निकट सम्बन्धियों की भांति रहने लगे। अधिकांश त्यौहार भी दोनों साथ ही साथ मनाते थे। जनार्दन हरि कीर्तने का बेटा विनायक और महादेव घनिष्ठ मित्र बन गए। अंग्रेजों ने जो सुधार किए उनमें एक था मानकीकृत स्कूलों के माध्यम से लड़कों को व्यवस्थित रूप से शिक्षा देना। ब्रिटिश भारत से कई प्रबुद्ध भारतीयों को कोल्हापुर में नए तरीके के स्कूल खोलने के लिए भेजा गया जिन्होंने 1848 में एक मराठी स्कूल और उसके बाद एक इंग्लिश स्कूल वहां पर खोला। स्कूल खुलते ही महादेव को भर्ती कर दिया गया।

महादेव ने जब प्राइमरी स्कूल में जाना आरम्भ किया तो जो कुछ भी उन्हें पढ़ाया जाता था उससे वह बहुत प्रभावित होते थे। वह

अपने पाठों को बुदबुदाया करते थे और अक्षर और अंक दीवारों पर उंगलियों से लिखते रहते थे। यही उनका मन-बहलाव था, जब वह गली में भी खेलने के लिए जाते तो अक्सर जमीन पर बैठकर धूल में उंगली से गुणा-भाग के सवाल हल किया करते थे।

जब तक अंग्रेजी का स्कूल खुला तब तक महादेव ने अपनी मराठी शिक्षा भी पूरी कर ली थी। प्रबुद्ध सज्जन नाना मोरोजी ने, जिन्होंने यह स्कूल खोलने में पहल की थी, सभी सरकारी अफसरों से पक्की-तौर पर पूछा कि कौन-कौन लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजेंगे। गोविन्दराव ने हामी भर दी थी। जब स्कूल खुला तो महादेव का नाम हाजिरी के रजिस्टर में था। तीन दिन तक महादेव स्कूल नहीं गया। अध्यापक ने गोविन्दराव से शिकायत की। पूछने पर पता चला कि गोपिकाबाई के मना करने के कारण महादेव स्कूल नहीं गया था। अन्य लोगों की भांति उन्हें भी यह गलतफहमी थी कि अंग्रेजी शिक्षा पाकर लड़के अपने समाज और संस्कृति को छोड़ देते हैं और अंग्रेजी शिक्षा उन्हें ईसाई बना देगी। इस पूर्वधारणा का आधार भी था। शुरू-शुरू में मिशनरियों ने जो अंग्रेजी स्कूल खोले थे, वे धर्म-परिवर्तन कराने के इरादे से ही खोले थे। गोविन्दराव जानते थे कि अंग्रेजी शिक्षा में डर की कोई बात नहीं है, खासतौर पर तब जबकि स्कूल के सभी अध्यापक और मैनेजर स्वयं उनके मित्र थे और हिन्दू थे। गोविन्दराव ने महादेव को उनकी माता के मना करने पर भी स्कूल भेजा। इस पर महादेव की माता इतनी निराश और दुखी हुई कि उन्होंने भोजन करना भी बन्द कर दिया। लेकिन गोविन्दराव ने उन्हें बहुत समझाया और महादेव को स्कूल में जाने के लिए राजी कर लिया।

कोल्हापुर के स्कूल में पूरी शिक्षा का प्रबंध नहीं था। आगे की पढ़ाई पुणे या बम्बई में होती थी। गोपिकाबाई अपने इकलौते बेटे की

जुदाई को सहन करने में असमर्थ थीं, इसलिए महादेव को शहर से बाहर नही जाने देना चाहती थीं। गोविन्दराव ने उनकी बात मान ली। इसके थोड़े दिन बाद ही प्रसव के समय गोपिकाबाई की मृत्यु हो गई। उस समय के रीति-रिवाज इतने पक्के थे कि अपनी पत्नी की मृत्यु के 16 दिन बाद ही, उसके सारे प्रेम और सम्बन्धों को भुला कर गोविन्दराव को फिर से विवाह करना पड़ा। थोड़े दिनों बाद सन 1854 में, जब महादेव 13 वर्ष के थे तो उनका विवाह सखूबाई से कर दिया गया, जो बाई के मोरोपंत दांडेकर की पुत्री और इचालकरंजी के शासक की बहिन थी। महादेव की बहिन का विवाह भी लगभग इसी समय कर दिया गया, पर महादेव के विवाह से कुछ पहले।

जनार्दन हरि कीर्तने और गोविन्दराव रानडे ने अपने लड़कों को आगे की शिक्षाग्रहण करने के लिए बाहर भेजने का निश्चय करने में बहुत समय लगा दिया। समझ में नहीं आता कि यह दो वर्षों का समय उन लोगों ने क्यों खराब किया। यह तो सच है कि उन दिनों बैलगाड़ी से सफर करना पड़ता था और कोल्हापुर से बम्बई बैलगाड़ी से जाने में बहुत समय लगता था। इसके अतिरिक्त लड़कों के रहने और खाने-पीने का इन्तजाम करने में भी उन दिनों बड़ी कठिनाई हुई। अब महादेव का धैर्य जवाब दे गया था। वह स्वयं तो अपने पिता से बात नही कर पाता था। वह उनसे बात करते डरता था। उस समय लड़कों का आमतौर पर ऐसा ही रवैया होता था। लेकिन वह अपने पिता के मित्र कीर्तने के पीछे पड़ा रहा। वह रोज सुबह जल्दी उठकर कीर्तने के कमरे के दरवाजे पर जा खड़ा होता। जब कीर्तने उठकर बाहर आते तो वह कहता, "आबा साहब, अब आप हम लोगों को कब बम्बई भेजेंगे? आप भाऊ साहब से बात कीजिए और हम लोगों को पढ़ने के लिए बम्बई के स्कूल में भेजिए।" महादेव बहुत अधीर हो गया था।

उसकी अधीरता शायद इसलिए थी कि बेकार बैठे रहने से वह थक गया। था या वह नए वातावरण में रहने लिए लालायित हो रहा था अथवा शायद इसलिए कि जिन लोगों ने उच्च शिक्षा ग्रहण की थी, उनकी योग्यता और प्रतिष्ठा प्राप्ति की तारीफ उसने अपने बड़ों के मुंह से सुनी थी। अन्त में लड़कों को पढ़ने के लिए भेजने का निर्णय कर लिया गया। जनवरी, 1857 में महादेव और उनके मित्र विनायक ने बम्बई के एलफिस्टन संस्थान में अपनी शिक्षा आरम्भ कर दी।

अध्याय 2

पाश्चात्य शिक्षा का आकर्षण

(1856-1865)

एलफिस्टन संस्थान का एक इतिहास है। जब मराठों की सत्ता समाप्त हुई तो 1819 में अंग्रेजों ने माउनस्टुअर्ट एलफिस्टन को बम्बई का गवर्नर बनाकर भेजा और महाराष्ट्र में अंग्रेजों की सत्ता सुदृढ़ करने का काम उसे सौंप दिया। उसने अच्छे प्रशिक्षित भारतीय कर्मचारियों की सहायता से बहुत अच्छा शासन-प्रबन्ध किया, साथ ही शैक्षिक व्यवस्था में भी उन्नति हुई। उस समय शिक्षा-व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं थी। गरीब अध्यापक अपने देशी स्कूल चला रहे थे। उन स्कूलों में कोई फर्नीचर नहीं था और न उनका कोई ठीक-ठीक पाठ्यक्रम ही था। घरों के बरामदों में बैठाकर लड़कों को पढ़ाया जाता था और पढ़ाने का तरीका भी ठीक न था। कुछ स्कूल अच्छे भी थे। उन्होंने कुछ उन्नति भी की थी। वे संस्कृत की उच्च शिक्षा भी देते थे, लेकिन विज्ञान की शिक्षा बिलकुल नहीं देते थे, जबकि पश्चिम में वह काफी विकसित हो गई थी। इसके अतिरिक्त एक बात और थी कि वे केवल ब्राह्मणों को ही पढ़ाते थे।

ईसाई मिशनरियों ने कुछ स्कूल खोले थे, जिनमें विज्ञान और अंग्रेजी पढ़ाई जाती थी। लेकिन एक तो स्कूलों की संख्या बहुत कम थी और दूसरे उनका लक्ष्य विशेष रूप से धर्म परिवर्तन था। उनके इस लक्ष्य से जनता में विद्रोह की भावना फैल रही थी। इसलिए एलफिस्टन ने सन् 1822 में 'बाम्बे नेटिव बुक एण्ड

स्कूल सोसायटी' बनवाई। इसके दो लक्ष्य थे—एक तो देशी भाषाओं में पाश्चात्य ज्ञान की पुस्तकें छापना और दूसरे नए तरीके के स्कूल खोलना और उनका सचालन करना। इस सोसायटी का पहला स्कूल सन् 1824 में खुला जो बाद में विकसित होकर एलफिस्टन संस्थान बन गया, जिसमे स्कूल और कालेज दोनों की कक्षाएं लगती थी। धीरे-धीरे इस संस्थान में अनेकों भारतीय शिक्षा ग्रहण करने लगे। इसके स्नातकों ने केवल सरकारी नौकरियों में ही अच्छे पद प्राप्त नही किए, वरन् वकालत, डाक्टरी आदि नए व्यवसायों में भी प्राप्त किए और जहां कहीं भी वे गए, वहीं उन्होंने नई शिक्षा का आन्दोलन आरम्भ किया। उन्ही में से एक नाना मोरोजी थे, जिन्होंने कोल्हापुर में नई शिक्षा प्रणाली का ऐसा ही स्कूल खोला था और उसी स्कूल में महादेव रानडे ने अपनी प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की थी। एलफिस्टन संस्थान पाश्चात्य और भारतीय बुद्धिजीवियों का समागम-स्थल था। इसलिए जल्दी ही वह सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक मामलों पर नए विचारों के आदान-प्रदान और प्रेरणा का स्रोत बन गया। बाल शास्त्री जम्बेकर पहले भारतीय थे जो वहां सहायक प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए। उन्होंने ही एलफिस्टन संस्थान में ज्ञान प्राप्ति के लिए उत्साह और उदारतावादी दृष्टिकोण की परम्परा कायम की। सन् 1848 में अंग्रेज प्रोफेसरों के प्रोत्साहन से वहां विद्यार्थियों ने 'विद्यार्थी साहित्यिक एवं वैज्ञानिक सोसायटी' स्थापित की। बाद में कई अन्य संस्थाओं का भी निर्माण हुआ, जिनका उद्देश्य धार्मिक सुधार, सामाजिक सुधार और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देना था। दादा भाई नौरोजी सन 1855 तक भारत में रहे और निरन्तर उनके कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेते रहे।

इसी संस्थान में जनार्दन हरि कीर्तने और गोविन्दराव रानडे ने अपने बेटों को भेजने का निश्चय किया। कोल्हापुर के पोलटीकल

एजेन्ट कर्नल रीव्ज ने सिफारिश की थी कि बच्चों को डाक्टर विल्सन के मिशनरी स्कूल में भेजा जाए। कर्नल रीव्ज का कहना था कि डाक्टर विल्सन के स्कूल में ईसाई धर्म के अच्छे सिद्धान्तों और आचार शास्त्र की शिक्षा दी जाती है, जबकि एलफिस्टन संस्थान ऐसी कोई शिक्षा नही देता। उसने यह भी कहा कि ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण है, इसलिए लड़कों को धार्मिक शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। स्पष्ट है कि उनकी ये दलीलें दोनों अभिभावकों को प्रभावित नही कर सकी और उन्होंने 1856 के अन्त अथवा 1857 के आरम्भ में अपने बेटों महादेव और विनायक को एलफिस्टन संस्थान में भेज दिया। ये दोनों और कीर्तने के तीन और लड़के फनसवाड़ी मोहल्ले में एक चाल में रहने लगे। वे कोल्हापुर से खाना बनाने के लिए एक ब्राह्मण और एक नौकर साथ लाए थे। उनकी आवश्यकताएं कम थीं और आराम से रहने के लिए काफी पैसा उनके घरों से आता था। इसलिए बेफिक्री से पढ़ने के लिए उन्हें खूब समय मिलता था। उसी चाल में रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर नाम का एक और विद्यार्थी रहता था। वह भी एलफिस्टन संस्थान में ही पढ़ता था। बाद में वह एक प्राच्यवेत्ता के रूप में प्रसिद्ध हुआ और उसने रानडे के धार्मिक और सामाजिक सुधार के काम में भी हाथ बंटाया।

अब तक एलफिस्टन संस्थान के दोनों भाग कालेज और स्कूल अलग-अलग कर दिए गए थे और कालेज अब स्वतन्त्र रूप से एक नई इमारत में चलने लगा था। रानडे का दाखिला एलफिस्टन हाईस्कूल में हुआ था। स्कूल की यह पुरानी इमारत बिल्कुल मामूली-सी थी। एक साल बाद रानडे कालेज में गए। कालेज की इमारत बहुत बड़ी थी। लेकिन बाद में सन् 1862 में कालेज को एक और भी अच्छे स्थान पर ले जाया गया। इसका वर्णन इस प्रकार किया

Purchased with the ...

गया है—"यह एक पुरानी आडम्बरहीन इमारत है जो एक बड़े तालाब के किनारे पर स्थित है। तालाब को अब भर दिया गया है। चारों ओर खूब बड़ा मैदान है जो पेड़ों से भरा हुआ है। वातावरण खूब मोहक है।" वहां का शैक्षिक वातावरण बहुत ही बढ़िया था। सन् 1854 में वुड की विज्ञप्ति के बाद भारत सरकार ने उच्च-स्तरीय पाश्चात्य शिक्षा आरम्भ करने का निर्णय कर लिया। इस विज्ञप्ति में निर्धारित नीति के अनुसार सरकार जिन अंग्रेजों को सार्वजनिक शिक्षा-निदेशकों और शिक्षा-संस्थाओं में अध्यापकों के रूप में लाती थी, वे अत्यन्त बुद्धिमान होते थे और उनका चरित्र अत्यन्त ऊंचे स्तर का होता था। कालेज में विद्यार्थियों की संख्या कम होने के कारण उन्हें अपने अध्यापकों से मिलने के खूब मौके मिलते थे और उनके बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे। अंग्रेज अध्यापक अपने विद्यार्थियों के साथ मित्रता का व्यवहार करते थे और सब पर व्यक्तिगत रूप से बड़े प्रेम सहित ध्यान देते थे। इधर विद्यार्थी भी अपने अध्यापकों की खूब इज्जत करते थे और उनकी शालीन और विद्वत्तापूर्ण आदतों को अपने सामने उदाहरण के रूप में रखते हुए उन्हीं के समान स्वयं भी आचरण करने की कोशिश करते थे। जिस समय रानडे ने संस्थान में प्रवेश लिया, उस समय स्कूल प्रिंसीपल एक भारतीय थे, जिनका नाम काईखुसरू होर्मसजी अल्पावाला था और कॉलेज के स्टाफ में एलेक्जेंडर ग्रांट तथा प्रो. हार्कनेस, हावर्ड, हुगलिंग्स और सिनक्लेयर आदि प्रोफेसर थे। विद्वानों और अध्यापकों के रूप में उनकी महानता का पता सर आर. जी. भण्डारकर, सर दिनशा वाचा और जस्टिस के. टी. तैलंग जैसे प्रतिष्ठा प्राप्त उनके विद्यार्थियों द्वारा समय-समय पर की गई उनकी प्रशस्तियों से चलता है। ये प्रशस्तियां उनके गहन ज्ञान, ज्ञान प्राप्ति के लिए

लगन, कर्त्तव्य, बोध, होनहार लड़कों को विद्या प्रदान करने की उत्कण्ठा और निष्पक्षता के अच्छे प्रमाण हैं। कॉलेज के अध्यापकों में वहा के प्रिंसीपल एलेक्जेंडर ग्रांट से रानडे बहुत प्रभावित थे। उन्होंने एक बार एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा, "ज्ञान प्राप्त करने के जैसे सुअवसर और साधन मुझे मिले वैसे शायद ही किसी और को मिले हों। सर एलेक्जेंडर ग्रांट मेरे अध्यापक थे और उन्होंने मेरा बहुत ही अच्छा पथ-प्रदर्शन किया।" सर दिनशा वाचा ने कहा है, "इसमें कोई सन्देह नहीं, कि विश्व-विख्यात यूनानी विद्वान सर एलेक्जेंडर ग्रांट का, जो उस समय कॉलेज के प्रिंसीपल और इतिहास और दर्शन के प्रोफेसर थे, रानडे के शैक्षिक कैरियर पर बड़ा प्रभाव पड़ा।" स्वयं एलेक्जेंडर भी रानडे से अत्यन्त प्रभावित थे। वस्तुतः रानडे उनके सबसे अधिक कृपापात्र विद्यार्थी थे। रानडे के साथ पढ़ने वाले अधिकतर विद्यार्थी जो उनके साथ पहले स्कूल में और फिर कॉलेज में थे, बड़े प्रतिभाशाली और परिश्रमी थे और उन्होंने अपने जीवन में बड़ी ख्याति पाई। विनायक जे. कीर्तने ने जो रानडे के बचपन के मित्र थे, मराठी में ऐसे नाटक लिखे, जिनसे नाटक की एक नई शैली का विकास हुआ। रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर विश्व-विख्यात प्राच्यवेत्ता बने, और महाराष्ट्र में धार्मिक और सामाजिक सुधारों के अगुवा रहे। उनके समकालीनों में एक वामन आवाजी मोदक थे, जिन्होंने भण्डारकर के साथ धार्मिक सुधार-सम्प्रदाय "प्रार्थना सभा" की स्थापना की और दूसरे बाल मंगेश वागले थे, जो बम्बई के बड़े जाने-माने वकील थे।

रानडे अपने विद्यार्थी जीवन में कितने परिश्रमी थे इसका वर्णन भण्डारकर ने इस प्रकार किया है: "सन् 1856 में जब रानडे कोल्हापुर से बम्बई एलफिस्टन कालेज मे प्रवेश लेने के लिए आए तभी मेरा उनसे परिचय हुआ। वह फनासवाड़ी

में हमारी ही चाल में आकर रहने लगे । वह गपशप में अपना समय नष्ट नहीं करते थे । न तो वह किसी को अच्छी तरह जानते ही थे और न किसी से घनिष्ठता बढाते थे । दिन-रात वह अपनी पढाई में ही लगे रहते थे । उन दिनों नियत समय पर परीक्षाएं नही होती थी—इन नियमित परीक्षाओं ने सच्ची विद्वत्ता का ही नाश कर दिया है । रात को दो-दो बजे तक महादेव अपने कमरे में बन्द इतिहास की मोटी - मोटी किताबें पढ़ने मे लगे रहते थे ।"

पढाई में रानडे की अच्छी प्रगति को देखते हुए सन् 1858 मे यानी एलफिस्टन स्कूल में प्रवेश लेने के एक वर्ष से भी कम समय में उन्हें एलफिस्टन कॉलेज में प्रवेश लेने की आज्ञा मिल गई । बम्बई विश्वविद्यालय का उद्घाटन सन् 1857 में हुआ । विश्वविद्यालय के नियम के अनुसार मैट्रिक की परीक्षा पास कर लेने पर ही विद्यार्थियों को कालेज में प्रवेश दिया जा सकता था और यह मैट्रिक की परीक्षा सन् 1859 से पहले नही हो सकी । बम्बई विश्वविद्यालय से पहली मैट्रिक परीक्षा 21 विद्यार्थियों ने पास की, जिनमें एक रानडे भी थे ।

इस परीक्षा के समय रानडे 17 वर्ष के थे । परीक्षा में उन्होंने मराठी सत्ता के पतन के विषय में दो लेख लिखे, जिनसे उनके विचारों का पता चलता है । अपने मराठी के प्रश्नपत्र में रानडे ने भारतीय समाज के कायापलट के विषय में लेख लिखा, जिसमें भारत में अंग्रेजी राज्य की भी कुछ निन्दा की । इसके लिए उन पर डांट भी पड़ी और अंक भी काट लिए गए । अंग्रेजी के प्रश्नपत्र मे उनके लेख का विषय था, 'मराठा सत्ता का उत्थान और विकास ।' इस लेख में अपने देश के लिए उनकी भावनाओं का पता चलता है । उन्होंने लिखा, "अपने देश का इतिहास लिखना बडा आनन्ददायक काम है । यद्यपि यह सोच कर दुःख होता है कि हमारी पुरानी सत्ता और हमारा गौरव

समाप्त हो गया है और देश यह नही जानता कि कौन उसके बेटे हैं और कौन उसके स्वामी हैं, फिर भी जब कोई अपने देश के उत्थान और विकास के विषय में लिखने बैठता है तो बडा सुख और सन्तोष मिलता है।" दूसरे, उस समय की सामाजिक दशा को देखकर उन्हें वड़ा दुःख होता था। उन्होंने लिखा, "देश मे जैसी भयंकर बीमारी और सम्पूर्ण विनाश का साम्राज्य है उसे देखकर कोई भी देशभक्त उस पुराने समय को याद करके राहत की सांस लेगा जब मराठा सत्ता अपने उत्कर्ष पर थी और जब धन, प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता अपने देश की अपनी सम्पत्ति थी।" अपने इस लेख में एक और तीसरा भावनापूर्ण विचार जो उन्होंने प्रकट किया वह था– शिवाजी पर लुटेरा और डाकू होने के आरोप से संबंधित। रानडे ने शिवाजी के ऊपर लगाए गए इस आरोप के विरुद्ध बड़े तीखे शब्दों में अपने विचार प्रकट किए और आरोप को गलत और झूठा ठहराया। दुर्भाग्यवश उस समय मिथ्यापवाद का खण्डन करने के लिए रानडे में पर्याप्त ज्ञान नहीं था। उन्होंने लिखा, "शिवाजी ने जो कुछ किया उसे यदि लूटमार ही कहा जाए तो मै कहता हूं कि एक सफल सरदार द्वारा संचालित लुटेरों के एक दल ने एक महान साम्राज्य की स्थापना की और इस प्रकार मराठा राष्ट्र बना और उसका उत्थान हुआ। शिवाजी को लूटमार करनी ही पड़ती थी क्योंकि औरंगजेब की बाज की सी नजर और निरंकुशता के सामने किसी भी दूसरे तरीके से जरा-सी भी सफलता मिलने की आशा नहीं थी।" इसी लेख में वाद में उन्होंने उन पेशवाओं के कार्यों का वर्णन किया है, जिनके राज्य में मराठा सत्ता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। उन्होंने लिखा, "इस प्रकार इस साम्राज्य को लुटेरों ने स्थापित किया और लूटमार से ही उसे मजबूत बनाया।" उन्होंने बाद में 'राइज आफ दी मराठा पावर' नाम की एक किताब लिखी जिसमें उन्होंने शिवाजी पर लगाए दोषों का साफ और पक्का उत्तर दिया।

अपने कालेज के दिनों में रानडे सदा बड़े प्रतिभाशाली रहे। उन्होंने अपनी सभी परीक्षाएं विशेष योग्यता से पास की। सीनियर स्कालरशिप परीक्षा 1861 में, बी ए. 1862 में, बी. ए. आनर्स 186 3 में, एम. ए. 1864 में, एल.एल-बी 1865 में और एल एल-बी आनर्स 1865 में पास की। उन्होंने बी.ए. परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और बी. ए. आनर्स द्वितीय श्रेणी में पास की। लेकिन बी.ए. आनर्स में अकेले वे ही परीक्षार्थी थे, उनका काम इतना प्रशंसायोग्य और उत्तम था कि उन्हें एक सोने का मैडल और 200 रुपए की पुस्तकें इनाम में दी गईं। उस जमाने में आनर्स परीक्षाओं के लिए यूनिवर्सिटी केवल विषयों का ही निर्धारण करती थी, पुस्तकों का नहीं। इस कारण पढ़ने के लिए किताबों की सीमा कोई नहीं थी। 1865 में एलएलबी की परीक्षा केवल दो परीक्षार्थियों ने दी, एक तो रानडे और दूसरे मंगेश वागले ने और दोनों ही प्रथम श्रेणी में पास हुए। कुछ ही सप्ताह बाद वे एल. एल. बी. आनर्स की परीक्षा मे बैठे। इसमें रानडे प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण हुए। अपने सम्पूर्ण विद्यार्थी जीवन में रानडे सदा वजीफा लेते रहे। मैट्रिक पास करने के बाद उनका चुनाव 'दक्षिणा फैलो' के रूप में हो गया और उन्हें 60 रुपया महीना वजीफा मिलने लगा। 'दक्षिणा फैलो' वह होता था जो पढ़ने और पढ़ाने दोनों का काम करता था। दो साल के बाद उन्हें 'उच्च दक्षिणा फैलो' बना दिया गया और उनका वजीफा बढ़ाकर 120 रुपये कर दिया गया। वह तीन साल तक 'उच्च दक्षिणा फैलो' रहे।

पूर्व स्नातक कक्षाओं में जो विषय रानडे ने पढे, वे अंग्रेजी-साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, धर्म और तर्कशास्त्र थे। अपना अंग्रेजी का ज्ञान बढ़ाने के लिए वह लैटिन की कक्षाओं में भी जाने लगे। वह कैमिस्ट्री की कक्षाओं में भी नियमित रूप से

जाते थे । 1863 में एक संस्कृत अध्यापक की सहायता से उन्होंने थोड़ी-सी संस्कृत भी सीखी थी । लेकिन उन्हें सबसे अधिक रुचि इतिहास और अर्थशास्त्र में थी । इसलिए यही दोनों विषय उन्होंने अपनी बी. ए. आनर्स की परीक्षा के लिए चुने ।

विद्वत्ता के बीज जो उनके कोल्हापुर के जीवन मे दबे पड़े थे, अब अंकुरित हुए और बढ़े । उन्होंने एलफिस्टन कालेज के 9 वर्ष के विद्यार्थी जीवन में बढ़कर एक बड़े विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया । इस विषय में उन्होंने एक पत्र मे लिखा कि इसका श्रेय प्रिंसीपल सर एलेक्जेंडर ग्रांट के उत्तम मार्गदर्शन, कालेज के पुस्तकालय और साथी विद्यार्थियों के बीच सबके ही कठिन परिश्रम और लगन को है । मेरे समय में छुट्टी के दिनो में भी विद्यार्थी समय बरबाद नहीं करते थे । वे एक विषय चुन लेते थे और उसी का अध्ययन करते रहते थे । पुस्तकों को रानडे बड़ी लगन से पढ़ते थे । उनके साथी भी विस्तृत अध्ययन के लिए उनके धैर्य, क्षमता और उत्कंठा को देखकर आश्चर्य करते थे । उनके एक साथी ने कहा, "विस्तृत अध्ययन में उनकी बराबरी हममें से कोई नही कर सकता ।" सन् 1861 में परीक्षा के एक प्रश्नपत्र में उनसे पूछा गया, "इस परीक्षा में बैठने तक आपने कौन-कौन सी पुस्तकें पढ़ी है ।" उत्तर में किताबो की जो सूची उन्होंने लिखी, उसे देखकर आश्चर्य होता था । उन्होंने लिखा, "इन तीन वर्षों में जो पुस्तकें मैंने पढी है, उनमें से जिनके नाम मुझे इस समय याद हैं, वह लिख रहा हूं :—

मेकाले—'हिस्ट्री आफ इंग्लैंड' भाग 1 और 2 तथा 'ऐसेज' (निबन्ध-माला) ग्रन्थ 1, 2 और 3 ।

गिब्बन—'डिक्लाइन एण्ड फाल आफ रोमन ऐम्पायर' (सम्पूर्ण)

बकल—'इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री आफ सिविलाइजेशन आफ इंगलिश पीपल' भाग 1 ।

स्काट—वेवरली, 'ऐन्टीक्वैरी', गाई मैनरिंग', 'रौवराय', 'ओल्ड मोर्टेलिटी'

बुलवर लिटन—'हैरोल्ड एण्ड रिन्जी'

प्लेटोज डायलाग्स—'फैडो', जार्जयस', सौफिस्ट'

मिल्टन—'पैरेडाइज लास्ट'

स्काट—'मारमियम', 'दी ले आफ दी लास्ट मिस्ट्रल'

बायरन—'गयोर', कोरसेयर', ब्राइड आफ एबाईडज'

हार्नटुक—'डायवर्शन्स' भाग 1

वाशिंगटन इर्विंग—'टेल्स आफ ट्रैवलर' 'कांक्वैस्ट आफ ग्रेनेडा

एडम स्मिथ—'वैल्थ आफ नेशन्स' भाग 1 और 2

बारवाल्ड—'सैलेक्शन्स फ्राम दी स्पेक्टेटर', भाग 1

मैडोम डी-आर्बले—'सिसीलिया'

कैम्पबैल—कविताएं

निर्धारित पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त रानडे ने शेक्सपियर के तीन नाटक, बेकन का 'नोवम आर्गनम' और बटलर का एनालाजी' पढ लिए थे। 'दक्षिणा फैलो' की हैसियत से उन्होंने अपने काम की जो रिपोर्ट लिखी, उसमें बतलाया कि बी.ए. आनर्स की परीक्षा के लिए उन्होंने लगभग 25,000 पृष्ठ पढ़े थे। उनकी आदत थी कि जो कुछ वह पढ़ते थे उसका संक्षिप्त विवरण लिख डालते थे। अक्तूबर की छुट्टियां भी उन्होंने अध्ययन करने में ही व्यतीत कर दी। वह रोज चौदह घंटे पढने-लिखने और अध्ययन में व्यतीत करते थे। इस तरह पढ़ने से उनकी आखों पर बहुत जोर पड़ा और एक दिन ऐसा आया, जब आंखें इतनी थक गई और उनको ऐसा नुकसान पहुंचा कि डाक्टरों ने रानडे को हफ्ते भर तक अंधेरे कमरे मे रहने का आदेश दिया, जिससे आंखों को आराम मिल सके।

ज्ञानवर्धन की अदम्य अभिलाषा ने ही अन्हें इतने विशाल पैमाने पर अध्ययन करने को प्रेरित किया। विचारों ने उन्हें और अधिक अध्ययन करने के लिए तथा अधिक अध्ययन ने और अधिक विचार करने के लिए प्रेरित किया। जब वह 'फैलो' थे तब उन्होंने एक रिपोर्ट लिखी थी। उसमें उन्होंने यह बतलाया था कि अन्य लोगों की भांति जब उन्हें कोई लेख लिखने को दिया जाता था तो वह उसे लिखने में कितना समय लगाते थे। प्रत्येक लेख जो वह लिखते थे उसके लिए सामग्री जमा करने में उन्हें दो घंटे लगते थे और फिर उस पर विचार करने और लिखने में तीन घंटे लगते थे। इस प्रकार सन् 1858 से 1865 तक अर्थात् अपनी 16 वर्ष की आयु से 23 वर्ष की आयु तक अपने देश के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुधारों के विषय में उनके विचारों की पक्की नींव पड़ चुकी थी।

जिस समय ये विचार बन रहे थे, उसी समय एक ऐसी घटना घटी जिससे उस समय की सरकारी नीति का पता चलता है। एक बार विद्यार्थियों से, शिवाजी की राज्य-व्यवस्था की तुलना अंग्रेजी राज्य-व्यवस्था से करने को कहा गया। रानडे ने अपनी समालोचना में ब्रिटिश व्यवस्था की बुरी तरह से निन्दा की। प्रिंसीपल सर एलेक्जेंडर ने बुलाकर उनको डांटा और फिर छः महीनों के लिए उनका वजीफा बंद कर दिया। रानडे ने चुपचाप अपनी सजा को स्वीकार कर लिया। इससे ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने अपनी गलती को मान लिया और सजा को न्याय-संगत समझा या ऐसा लगता है कि शायद यह मौन स्वीकृति केवल सर एलेक्जेंडर के लिए उनकी महान श्रद्धा के कारण ही होगी।

रानडे के सीनियर आर.जी. भण्डारकर के शब्दों में हम पहले ही बतला चुके हैं कि उनका मन ज्ञानार्जन में लगा था। अपनी पढ़ाई के कारण उन्होंने सभी सामाजिक कार्यक्रमों से अपने आपको अलग

कर रखा था। उनके एक जूनियर विद्यार्थी ने भी उनके विषय में अपने विचार व्यक्त किए थे। वह थे दिनशा वाचा। वह लिखते हैं, मुझे खूब याद है कि किस प्रकार वह कालेज लाइब्रेरी में जमकर घंटों पढ़ाई किया करते थे। अपने कालेज की पढ़ाई और वजीफे के इम्तिहानों की पढ़ाई तो उन्हें बच्चों का सा खेल लगती थी। कठिन से कठिन पुस्तकों को वह इतनी आसानी से समझ लेते थे और ज्ञान प्राप्त करने की उनकी इतनी अदमनीय उत्कंठा थी और पुस्तक के विषय को हृदयंगम करने की उनकी ऐसी महान क्षमता थी कि वह दिन भर बैठे पढ़ते रहते थे। खेलकूद का समय भी पढ़ने-लिखने में ही बीत जाता था। पुस्तकों को वह बार-बार पढ़ते थे। ऐसे विस्तृत अध्ययन के लिए हममें से किसी में भी न तो धैर्य था, न शक्ति थी, और न उत्कंठा ही थी। हम लोग कभी-कभी मजाक में उन्हें 'हस्तिशावक' कहा करते थे। उनके शरीर की भद्दी गठन और हाथी के से डील-डौल के कारण ही उन्हें सब ठीक ही 'छोटा हाथी' कहते थे। अपनी सीधी-सादी आदतों, स्वभाव से साफ दिल, और सहज संकोची स्वभाव के कारण ही वह अपनी पूरी कक्षा के श्रद्धाभाजन बन गए थे। शहरी तरीकों से अनजान, भोले-भाले रानडे बेंच पर बैठ कर अपनी भारी-भारी टांगें सामने की डेस्क पर फैला लेते और फिर पगड़ी उतार कर जोर-जोर से पढ़ना शुरू करते। सुबह से शाम हो जाती और उन्हें पता ही न चलता। बीच में वह सांस लेने, सुस्ताने को भी एक मिनट के लिए नहीं रुकते थे। वह पढ़ने में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें यह ध्यान ही नहीं रहता था कि उनके आसपास क्या हो रहा है। खाने और पहनने के बारे में उन्हें कभी कोई शिकायत नहीं थी। कुछ भी खा लेते और पहन लेते।

यद्यपि वह अपनी पढ़ाई में ही तल्लीन रहते थे और कालेज के सामाजिक क्रियाकलापों से उन्होंने अपने आपको बिलकुल

अलग कर रखा था, मगर फिर भी कभी-कभी ऐसा मौका आता था कि कुछ लोगों के कारण वह परेशान हो जाते थे। ऐसे मौकों पर उनकी आदत थी कि वह अपने कमरे में जाकर अन्दर से बंद करके घंटों बैठे रहते थे। एक दिन एक मित्र ने पूछ लिया कि भाई इस तरह बंद होकर क्यों बैठ जाते हो? तो उन्होंने उत्तर दिया "मुझे यह डर लगता है कि अपने गुस्से में कहीं मैं अपना आपा न खो बैठूं और ऐसे कठोर शब्द न कह बैठूं, जिससे दूसरे आदमी को दुःख हो या क्रोध आए। अपने को अन्दर बन्द करके मैं बेकार की बहस और उत्तेजना को रोक देता हूं।

अपनी फैलोशिप के दौरान रानडे को अपनी पढ़ाई तो करनी ही पड़ती थी, अपने जूनियर विद्यार्थियों को भी पढ़ाना पड़ता था। वह उन्हें गणित, अर्थशास्त्र, भूगोल, तर्कशास्त्र और अंग्रेजी-काव्य तथा निबन्ध रचना आदि पढ़ाते थे। भूगोल पढ़ाते समय वह इतिहास का भी सहारा लेते थे। इतिहास के उदाहरण दे-देकर वह समझाते थे कि किस प्रकार मनुष्य ने पृथ्वी पर परिवर्तन और रूपान्तर किए हैं। इस प्रकार पढ़ाने से विषय अत्यन्त रोचक हो जाता था। कोई भी विषय पढ़ाने से पहले वह उसकी पृष्ठभूमि अच्छी तरह तैयार करते और उसके लिए बड़ी-बड़ी किताबें पढ़ डालते। उदाहरण के लिए भारत का इतिहास पढ़ाने के लिए उन्होंने पहले मिल, एलफिंस्टन, मरे, टेलर, मैकफरलेन, थार्नटन, विलकीज और मैलकाम की लिखी इतिहास की पुस्तकें पढ़ीं। जो लेक्चर वह क्लास में देते थे, वे इन पुस्तकों से बनाए गए विस्तृत नोटों पर ही आधारित होते थे। हर सप्ताह वह विद्यार्थियों से इतिहास के किसी प्रसंग पर जैसे मुस्लिम शासन के लाभ और हानि, या किसी महान शासक की जीवनी या किसी महत्वपूर्ण लड़ाई का नक्शे आदि पर लिखवाया करते थे। अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए, पूर्व

स्नातकों के लिए निर्धारित 'मिल' की पुस्तक पर ही वह निर्भर नही रहते थे। वह पढ़ाने के लिए माल्थस, वेस्टियट, रेम्जे, एम कुलोच और सीनियर की पुस्तको से भी सहायता लेते थे। रानडे को पढ़ाने में जितना आनन्द आता था, उतना विद्यार्थियों को पढ़ने में नही आता था। अपनी एक रिपोर्ट में रानडे ने लिखा, "मुझे यह देख कर दुःख हुआ कि क्लास में अधिकतर विद्यार्थी नोटबुकों (छोटी पुस्तको) से ही संतुष्ट हो जाते थे। ये पुस्तकें आमतौर से बड़ी नीरस होती थी और केवल दोहराने के लिए ही अच्छी थीं।"

रानडे के ऊपर अध्ययन और अध्यापन का काफी कठिन काम तो था ही, अब उन्होंने 'इन्दुप्रकाश' नामक एक अंग्रेजी-मराठी दैनिक के, जो हाल में ही आरंभ हुआ था, अंग्रेजी विभाग में सम्पादक का काम भी शुरू कर दिया। पाश्चात्य संस्कृति की एक चीज से वे प्रभावित थे, और वह थी प्रेस की शक्ति। जब वह कालेज के विद्यार्थी थे तब अपने एक लेख में उन्होंने समाचारपत्रों के विषय में लिखा—"वाह लोगों की गलतियों को सुधारने का कितना अच्छा साधन है। हर तरह की अच्छाइयों को प्रोत्साहन देने के लिए भी कितना अच्छा ज़रिया है। राजाओं तथा उन लोगों के लिए जो जनता की अज्ञानता से लाभ उठाते है, कैसा आतंककारी शस्त्र है। मनुष्य के हाथ में कितना शक्तिशाली इंजन है।"

बी. ए. पास करने के तुरत बाद ही इस इंजन का प्रयोग करने का मौका उन्हें हाथ आया। सन् 1862 में 'इंदुप्रकाश' नामक पत्र समाज सुधारकों के एक छोटे से दल ने निकालना शुरू किया। वह पत्र सभी महत्वपूर्ण समाचार देता था और समस्याओं के विषय में लिखता था। कुछ दिनों बाद रानडे ने सम्पादक का काम छोड़ दिया। लेकिन समय-समय पर वह इस पत्र के लिए लिखते रहे। सामान्य जनता के साथ रानडे का यह पहला सम्पर्क था। उन्होंने

अहमदशाह अब्दाली और मराठों के बीच 1761 में हुई पानीपत की लड़ाई की शताब्दी के ऊपर एक लेख लिखा। उसकी बहुत प्रशंसा हुई और सबने उसे बहुत पसंद किया।

सन् 1848 में एलफिंस्टन कॉलेज के विद्यार्थियों द्वारा खोली गई एक 'स्टूडेंट्स लिटरेरी एण्ड साइन्टिफिक सोसाइटी' का जिक्र हम पहले ही कर चुके हैं। यह संस्थान के बौद्धिक और सांस्कृतिक वातावरण की उपज और उसका ही भाग थी। पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप लोग स्वतंत्र रूप से उस समय की सामाजिक और धार्मिक दशा के विषय में विचार करने लगे और उसी के कारण सुधार लाने की भी कोशिश करने लगे। इस सोसाइटी के अन्तर्गत एक 'ज्ञान प्रकाशक सभा' का आयोजन किया गया। यह एक ऐसी सभा थी जो लोगों में ज्ञान फैलाने के लिए बनाई गई थी। रानडे तथा उनके अन्य साथी विद्यार्थी—कीर्तने, गाडगिल, परमानन्द, बागले, कुन्टे, पाठक और मोदक आदि इस सभा के सदस्य बन गए और फिर उन्होंने लेख लिखे। उन लेखों से पता चलता है कि रानडे के अध्ययन के फलस्वरूप किस प्रकार सामाजिक दशाओं और समस्याओं पर उनके विचारों का निर्माण हो रहा था। सन् 1859 में उन्होंने एक (निबंध) पढ़ा—'दी ड्यूटीज आफ दी एजूकेटिड यंगमैन'; 1860 में दूसरा निबंध पढ़ा—'मराठा प्रिंसेज, जागीरदार्स एण्ड इनामदार्स'–जिसमें उन्होंने मराठा राजकुमारों, जागीरदारों और इनामदारों की ऐश व आराम की जिंदगी की निंदा की और उन्हें सलाह दी कि वे स्कूल और कॉलेज में शिक्षा ग्रहण करें। 1863 में तीसरा निबंध पढ़ा—'कम्पैरिजन बिटविन दी प्रोस्पेक्टस आफ प्रोग्रेस आफ दी प्यूपिल्स आफ महाराष्ट्र एण्ड बंगाल'। इसमें उन्होंने बंगालियों के उदाहरण की प्रशंसा की और 1864 में चौथा निबंध पढ़ा–'दी ईविल इफैक्टस आफ

ओवर पापुलेशन', जिसमें उन्होंने इस अंधविश्वास की निंदा की कि बच्चों का जन्म भाग्य से होता है।

कालेज के विद्यार्थी काल के अत्यंत व्यस्त जीवन के दौरान रानडे के पारिवारिक जीवन का बहुत कम हाल मालूम हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह अपनी छुट्टियां भी अध्ययन करने में ही व्यतीत करते थे, लेकिन फिर भी वह घर तो अवश्य ही जाते होंगे जहां सब लोग उनकी सफलता पर प्रसन्न होते होंगे और उनके संक्षिप्त और दुर्लभ आगमन का इंतजार करते होंगे। सन् 1862 में उन्होंने बी. ए. पास कर लिया और वह सीनियर फैलो बन गए और उन्हे 120 रुपये महीना वजीफा मिलने लगा। तब वह अपनी पत्नी को बम्बई ले आए। वह मराठी पढ़ और लिख लेती थी। उस समय के रूढ़िग्रस्त समाज में स्त्रियों को शिक्षा के नाम पर इतना बहुत ही काफी था। उस समय की परम्परा थी कि पुत्र पिता के तथा पत्नी पति के पूर्ण रूप से अधीन होती थी। रानडे का पारिवारिक जीवन इस परम्परा के अनुसार ही था। रानडे की दूसरी पत्नी ने अपने संस्मरणों में लिखा है, "मेरे पति स्वयं अपने पिता के पास जाकर कभी कुछ नहीं मांगते थे। बचपन से अंत तक अपने पिता के साथ उनका यही व्यवहार रहा। जहां तक सम्भव होता वह दूसरों के द्वारा ही अपना काम करवा लिया करते थे। यदि कभी ऐसा मौका आ भी जाता जब उन्हे स्वयं ही पिताजी से बात करनी पड़ती तो वे बहुत संक्षेप में और अत्यंत श्रद्धा सहित अपनी बात उनसे कहते। अपने पिता की उपस्थिति में वह कभी नहीं बैठते थे। केवल भोजन करते समय ही उनके सामने बैठते थे। जब वह उनसे बात करने जाते तो खड़े होकर अत्यंत श्रद्धा सहित अपनी बात कहते और फिर वापिस चले आते।

सन् 1865 में एल.एलबी. पास करने और सन् 1866 में शिक्षा विभाग में मराठी अनुवादक के पद पर नियुक्त होने के बाद रानडे का विद्यार्थी जीवन और 'दक्षिणा फैलो' का कार्यभार समाप्त हो गया।

अध्याय 3

अधिकारी के रूप में

(1865–1871)

सन् 1865 में एल.एलबी. पास करने के बाद छ: वर्ष तक रानडे ने विभिन्न क्षेत्रों में काम करके खूब अनुभव प्राप्त किया। उन्होंने कई सरकारी विभागों में भी काम किया। 1866 तक वह कॉलेज के 'फैलो' रहे। 1866 से 1868 तक मराठी अनुवादक के रूप में मराठी प्रकाशनों की समीक्षा का काम किया। 1867 में कुछ महीनों तक अक्कलकोट राज्य के प्रशासक रहे। 1867 से 1868 तक कोल्हापुर राज्य में न्यायाधीश के पद पर रहे और सन 1868 से 1871 तक बम्बई के एलफिस्टन कॉलेज में अंग्रेजी साहित्य के प्रोफेसर हे। उन्हें विभिन्न विषयों की पुस्तकों की समीक्षा करनी होती थी और आमतौर पर उनकी समीक्षाएं सर्वांगीण और विद्वतापूर्ण होती थी इसलिए उन्हें नानाविध विषयों का अध्ययन विस्तृत पैमाने पर करना पड़ता था और विविध विषयों पर लिखना पड़ता था।

एल.एलबी. पास करने के बाद रानडे को वकालत का पेशा अपना लेना चाहिए था। लेकिन उन्होंने सरकारी नौकरी करना अधिक अच्छा समझा क्योंकि उनके ख्याल से यह कम लाभप्रद होते हुए भी अधिक पक्का काम था। स्वभाव से वह कॉलेज के प्रोफेसर या न्यायाधीश के पद पर अधिक अच्छा काम कर सकते थे। वकील का काम उन्हें इसलिए पसंद नही था कि उसमें एक मुकदमे की, एक तरफ से ही बहस करनी पड़ती है और प्रतिस्पर्धा रखनी पड़ती है। स्वाभाविक ही था कि उन्होंने सरकारी नौकरी करने का ही निश्चय किया। लेकिन

मजेदार बात यह है कि 24 वर्ष का यह नौजवान जब अक्कलकोट रियासत का प्रशासक नियुक्त हुआ तो वहां उसने सफलतापूर्वक काम किया। वहां के शासक ने शासन व्यवस्था को बहुत खराब कर रखा था, इसलिए अंग्रेज सरकार ने इस रियासत को संभालने के लिए यहाँ एक रीजेन्ट नियुक्त कर दिया था। रानडे ने यहां बहुत अच्छा काम किया और कहना चाहिए कि यही रानडे को शासन-व्यवस्था संभालने का सबसे अच्छा अवसर मिला। बाद में एक बड़े प्रभावशाली अखबार में शासन-व्यवस्था के ऊपर उन्होंने महत्वपूर्ण लेख लिखा। यहीं से कोल्हापुर के अपेक्षाकृत एक बड़े राज्य में उन्हें न्यायाधीश के पद पर भेजा गया और यहां उन्हें 400 रु. महीना तनख्वाह मिलने लगी।

इस नियुक्ति के कारण रानडे वापिस अपने पिता के घर ही आ गए। उनके पिता उस समय कोल्हापुर के शासक के निजी सचिव थे। यद्यपि रानडे वहां पर न्यायाधीश के पद पर काम कर रहे थे, लेकिन उन्होंने अपने विद्यार्थी काल का सा आचरण कायम रखा। वह उतने ही विनीत और संकोची अब भी थे। वह कभी किसी को न तो डांटते-फटकारते ही थे और न किसी से बहुत बातचीत ही करते थे। रानडे के पिता कोल्हापुर में अनेक वर्ष से रह रहे थे। इसलिए उनके अनेक बड़े और प्रभावशाली मित्र थे। इसकी सदा आशंका बनी रहती थी कि वे लोग अथवा कोई नजदीकी मित्र रानडे से अनुग्रह की आशा करेंगे। रानडे के पिता जानते थे कि ऐसी मांगें करना बेकार है। इसलिए जो कोई ऐसा प्रस्ताव उनके सामने रखता, उसे वह मना ही कर देते थे। लेकिन उनमें एक ऐसा व्यक्ति भी था जो वापस नहीं गया और दृढ़ता से अपनी मांग पेश करने के लिए बैठा ही रहा। रानडे के पिता अनिच्छापूर्वक उसे ऊपर रानडे के पढ़ने के कमरे में ले गए। रानडे की पत्नी ने इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है, "मेरे पति ने जैसे ही अपने पिता को आते देखा तो उठकर खड़े हो गए और जब वे दोनों

बैठ गए तभी वह भी बैठे। पिताजी ने उन सज्जन की ओर इशारा करते हुए कहा कि मेरे यह मित्र तुमसे कुछ कहना चाहते है। जरा इनकी वात सुन लो। मेरे पति ने कुछ भी उत्तर नही दिया। उन्हे चुप देखकर वह सज्जन वोले कि आज मैं अपने साथ सव कागज नहीं लाया हूँ। अगर आप थोड़ा समय दे तो मै उन्हे मंगवा लूं। मेरे पति ने उत्तर दिया कि आज तो मेरे पास वहुत काम है। जव मुझे समय होगा तव आपको कहलवा दूंगा। वह सज्जन उठे और चले गए। जव मामनजी (ससुरजी) भी उठकर नीचे जाने लगे तव मेरे पति ने खडे होकर नम्रता के साथ किन्तु दृढता से कहा, 'मैं यहां ड्यूटी पर आया हूं। सारा कोल्हापुर आपको जानता है और आपको मित्र समझता है। कोई भी आपके पास आकर अपने मुकदमे की सिफारिश करने के लिए कह सकता है। लेकिन अच्छा यही होगा कि इस वात से वचकर रहें। नहीं तो हो सकता है कि यह आपके लिए एक स्थायी चिंता का कारण वन जाए और मुझे अपना तवादला यहां से करवाना पड़े। मेरा नियम है कि मैं लोगों से मुकदमे के विषय में घर पर नहीं मिलता और और न मैं उनके कागज ही देखता हूं। यह मेरा नियम है, मुझे आशा है कि आप इस नियम का पालन करने में मेरी सहायता करेंगे।' इसके वाद मेरे पति चार महीने और कोल्हापुर में रहे। लेकिन ऐसा मौका फिर कभी नही आया।"

मराठी प्रकाशनों की समीक्षाओं से रानडे के वह विचार प्रकाश में आते है जो उनके पाश्चात्य साहित्य के व्यापक और विवेचनात्मक अध्ययन का परिणाम थे। वास्तव में उन्होंने सन् 1859 से ही पहले तो 'ज्ञान प्रकाशक सभा' के सक्रिय सदस्य के रूप में तथा वाद में 'इन्दुप्रकाश' के लिए लेख लिखकर अपने विचार व्यक्त करने आरम्भ कर दिए थे। सभा के लिए जो पहला निवन्ध उन्होंने लिखा उसका शीर्षक था, 'पढ़े-लिखे नौजवानों के कर्त्तव्य' (ड्यूटीज

ऑफ एजूकेटिड यंगमैन) । अंग्रेजी शिक्षा से जो महान बौद्धिक और नैतिक लाभ उन्हें हुए थे, उनका वह मूल्यांकन कर रहे थे क्योंकि उन्होंने अपने अगले दो निबन्धों में उन पर जोर दिया है । उनमें एक था—'प्रिंसेज इन महाराष्ट्र' (महाराष्ट्र के राजा और दूसरा था, 'कम्पैरिजन विटविन दी प्रोस्पेक्ट्स आफ प्रोग्रेस आफ दी पीपुल्स आफ महाराष्ट्र एण्ड बंगाल) (महाराष्ट्र और बंगाल के लोगों की प्रगति की सम्भावनाओं की तुलना) । सन् 1864 में उन्होंने 'दी ईविल कांसीक्वेंसिस आफ ओवर पापुलेशन' (अत्यधिक जनसंख्या के दुष्परिणाम) शीर्षक लेख लिखकर केवल माल्थस के विचारों का ही प्रतिपादन नहीं किया, बल्कि दार्शनिक तर्कों द्वारा विषय की व्याख्या भी की । उन्होंने कहा कि इस संसार में बुराइयों का बाहुल्य न तो हमारे पिछले जन्मों के संचित पापों के कारण है, न भगवान की नाराजी के कारण है । ये सब मनुष्य की मूर्खता के परिणाम हैं (उस समय भारत में ऐसे अन्धविश्वास व्यापक रूप से प्रचलित थे) । अधिक सन्तान पैदा करना एक प्रकार की मूर्खता ही है । उनके निबन्ध में पहली बार अपने देशवासियों में व्यापक रूप से फैली हुई दुर्दशा के प्रति उनकी चिन्ता के दर्शन होते हैं । उन्होंने अपना लेख इस प्रकार आरम्भ किया, "मित्रो ! आज मैंने अपने निबन्ध के लिए ऐसा विषय चुना है, जो उन सभी विषयों में महत्वपूर्ण है, जो हम सबके दिमागों को आन्दोलित किए हुए है । जो हमें रात-दिन बेचैन किए हुए है, जो सोते-जागते हर समय हमें घेरे रहते हैं, तथा जो हमें न शान्ति से रहने देते हैं और न सुख से ।" भारत की अत्यधिक जनसंख्या से निजात पाने के लिए उन्होंने दो उपायों का सुझाव दिया । एक तो संयुक्त परिवार का उन्मूलन और दूसरा बाल-विवाह का अन्त ।

शिक्षा विभाग में मराठी अनुवादक के पद पर काम करने से पहले भी वह मराठी पुस्तकों के सम्पर्क में रह चुके थे । मैट्रिक परीक्षा में वह

मराठी के परीक्षक रह चुके थे। अपनी परीक्षक रिपोर्ट में उन्होंने लिखा, 'परीक्षक' के रूप में जो उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है, उसे ठीक से निभाने के लिए मैंने छः अध्याय ''ज्ञानेश्वरी' के पढे, कई भाग 'नवनी' के पढे और मोरोपंत की कविताएं पढीं। जून 1866 से अप्रैल 1868 तक उन्होंने अनुवादक के पद पर काम किया। इसी दौरान उन्होंने अक्कलकोट के कारभारी और कोल्हापुर के न्यायाधीश के रूप में भी काम किया। जहां वह होते, वहीं पुस्तकें और प्रकाशन उनके पास समीक्षा के लिए भेज दिए जाते थे।

सतारा के भोंसलों के इतिहास की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा, "हम यों ही, बिना किसी आधार के, पहले समय के लोगों के विषय में अपनी धारणाएं नहीं बना सकते। हमें तत्कालीन इतिहास को ध्यान में रखते हुए उस समय के लोगों के विषय में विचार करना होगा। हमें यह ख्याल करना होगा कि उस कठिन समय में कैसी विचित्र परिस्थितियों में उन लोगों ने समय व्यतीत किया। ऐसे न्यायोचित मानक को सामने रखकर हम शिवाजी का उदाहरण ले सकते हैं।" सन् 1859 में रानडे ने शिवाजी के लिए 'लुटेरा' शब्द का प्रयोग बड़ी अनिच्छा से स्वीकार किया था। 1866 की इस समीक्षा में उन्होंने कहा कि उनके (शिवाजी) लिए 'लुटेरा' शब्द का प्रयोग बिल्कुल अनुपयुक्त है। अपने बाद के लेखों में उन्होंने शिवाजी की खूब प्रशंसा की है।

'सारन्ध्री' नामक नाटक की समीक्षा करते हुए रानडे ने नाटक में बार-बार विदूषक को सन्निविष्ट करके उस दुःखान्त नाटक की गम्भीरता को नष्ट करने के लिए, उसके लेखक की निन्दा की। उन्होंने निम्न श्रेणी के दर्शकों के मनोरंजन के लिए ऐसा करना अनुचित बताया। उन्होंने मोरोपंत के भजन-संग्रह 'केकावली' की टीका 'केकादर्श' के लिए भी उसके लेखक को दोषी

ठहराया, क्योंकि उसमें मौलिकता नही थी। अंग्रेजी साहित्य के व्यापक और विवेचनात्मक अध्ययन के कारण उनके अन्दर एक सुन्दर साहित्यिक सुरुचि का संवर्धन हो गया था। वह मराठी साहित्य की निन्दा इसलिए किया करते थे कि शायद उनके ऐसा करने से उनका स्तर ऊंचा हो जाए। लेकिन वे आंखे बंद करके अंग्रेजी कथानक की नकल करने और मराठी कहानियों में अंग्रेजी रीति-रिवाजों और भावनाओं को उतारने के विरुद्ध थे। 'रत्नप्रभा' उपन्यास के विरुद्ध भी उनकी यही आपत्ति थी। उनके कथानक में विधवा विवाह को तो प्रोत्साहन दिया गया था, लेकिन पात्रों को प्रेम करते हुए दिखाया गया था। रानडे ने बड़ी दृढ़ता से चेतावनी दी कि भारतीय समाज में शादी-ब्याह की व्यवस्था माता-पिता करते हैं और विवाह के बाद ही स्त्री और पुरुष आपस में आत्मीयता बढ़ाते हैं, एक दूसरे से प्रेम करते हैं और एक दूसरे के प्रति निष्ठावान बनते हैं। आज की विशिष्ट परिस्थितियों में जो उपन्यास और नाटक भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को भुलाकर यूरोपीय संस्कृति को ध्यान मे रखते हुए पाश्चात्य ढर्रे पर लिखे जाते हैं, वे जनता के बीच स्थायी रूप से कभी सफलता प्राप्त नही कर सकते। वह सुरुचि जिससे देशवासियों का मनोरंजन हो, अभी पैदा की जानी है और जब तक वह पैदा नहीं होती तब तक देशी लेखकों को उस खतरनाक विषय को छोड़ देना चाहिए, जिसमे जनता की रुचि को विकृत प्रेम में उलझाए बिना वे अपना आशय नहीं समझा सकते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अभी तक विषय बहुत थोड़े है, लेकिन साहित्यिक कला में जब जीवन और प्रकृति को उनके सच्चे रूपों में उतारना हो तो आप अपनी कल्पना का संसार नही बना सकते। आपको वर्तमान को उसके अपने सही रूप में ही अपनाना होगा और उसी से काम चलाना होगा। फिर भी वे चाहते थे कि हमारे सामाजिक रीति-रिवाजों में

परिवर्तन हो जाए और हमारे युवक और युवतियां भी उसी प्रकार 'शुद्ध' प्रेम करने लगें, जैसा कि पश्चिमी समाज मे होता है। उन्होंने कहा कि स्त्री और पुरुष के बीच शुद्ध और निर्मल प्रेम निर्दोषता और स्वास्थ्य का सबसे पहला प्रस्फुरण है और जो प्रेम-विवाह के पवित्र-बंधन में परिणत होकर अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है, वह प्रत्येक स्थायी साहित्यिक रचना के लिए सौन्दर्य का अपरिमित स्रोत होता है; क्योंकि मानव स्वभाव की सभी संवेदनाओं में केवल प्रेम ही ऐसा है जो मनुष्य को उत्तम त्यागों के कारण ऊंचा उठा देता है। स्त्री-पुरुष का चढ़ती जवानी का यह समान प्रेम माता-पिता और बच्चे के बीच के अथवा अन्य पारिवारिक सम्बन्धियों के असमान और नियन्त्रित प्रेम से कही अधिक प्रभावशाली है और उसमें मानव स्वभाव को प्रभावित करने की कहीं अधिक क्षमता है।

रानडे को सरकारी तौर से उन मराठी पुस्तकों की सूची बनाने का काम सौपा गया था जो शुरू से 1864 तक प्रकाशित हुई थी। सूची का विश्लेषण करते हुए उन्होंने मराठी प्रकाशन की हर शाखा जैसे स्कूली पुस्तकों, लोकप्रिय साहित्य विज्ञान और कानून की पुस्तकों, पौराणिक काव्य, भक्ति-काव्य और नैतिक रचनाओं की दशा पर संक्षिप्त और समालोचनात्मक विचार प्रकट किए। पुस्तकों का यह वर्गीकरण उनका अपना था। उस समय तक कुल 661 मराठी किताबें ही प्रकाशित हुई थी। यद्यपि छपाई की मशीन कुछ दिन पहले ही ईजाद हुई थी लेकिन मराठी में लिखने का काम 'ज्ञानेश्वरी' की रचना के साथ 600 वर्ष पहले ही आरम्भ हो गया था। इस पर ध्यान दिया जाए तो यह कहना होगा कि पुस्तकों की संख्या बहुत कम थी। यह सही है कि यदि निरपेक्ष भाव से देखा जाए तो यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। भाषा की अब तक जितनी प्रगति हुई है उसे कोई अच्छी उपलब्धि नही कहा जा सकता; लेकिन भविष्य में उसकी

उन्नति की अच्छी आशा बंधती है। यदि कोई अजनबी हमारे साहित्य को ध्यान से देखे तो पाएगा कि उसमें कितना अन्धविश्वास और बचपना है। अजनबी का नाम रानडे ने इसलिए लिया क्योंकि उसका दृष्टिकोण ही बतला सकेगा कि हम कितने पानी में हैं। रानडे ने यह भी देखा कि अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद से ही प्रगति होनी शुरू हुई है। सन् 1818 से बाद की दशाब्दियों में क्रम से 3, 10, 30, 102 और 550 मराठी पुस्तकें बढ़ते हुए ज्यामितीय अनुपात से प्रकाशित हुईं।

उन दिनों एडवोकेट परीक्षा भी हुआ करती थी जिसके बिना कानूनी शिक्षा सम्पूर्ण नहीं होती थी। इस परीक्षा में पास होने पर हाईकोर्ट में मौलिक रूप से तथा अपील करने वाले की ओर से प्रैक्टिस करने के लिए बैरिस्टर को सारी सुविधाएं मिल जाती थीं। उन दिनों वह मराठी अनुवादक का काम करते थे और कोल्हापुर के न्यायाधीश भी थे, इसलिए उनके पास बिल्कुल समय नहीं था। इसके अतिरिक्त कोल्हापुर जैसे स्थान में परीक्षा की तैयारी करने के लिए पर्याप्त साधन भी नहीं थे। इस परीक्षा की तैयारी करने के लिए रानडे ने कोल्हापुर के न्यायाधीश के पद से त्यागपत्र दे दिया और बम्बई के एलफिस्टन कॉलेज के अंग्रेजी साहित्य के स्थानापन्न प्रोफेसर का पद स्वीकार कर लिया। स्थायी प्रोफेसर के आने पर उनके लिए एक असिस्टेंट प्रोफेसर की जगह निकाली गई। उन्होंने इस पद पर सन् 1868 से 1871 तक काम किया। सन् 1871 में उन्होंने एडवोकेट परीक्षा पास की।

यह परीक्षा पास करने के बाद रानडे की नियुक्ति मजिस्ट्रेट के पद पर हुई और इस नियुक्ति के बाद उनका लम्बा 14 वर्ष पुराना एलफिस्टन कॉलेज का सम्पर्क टूट गया, जहां पहले वह विद्यार्थी की

हैसियत से और फिर अध्यापक की हैसियत से रहे। इस समय से अपने पूरे जीवन भर रानडे अदालती नौकरी ही करते रहे। नवंबर 1871 में जब उनकी नियुक्ति पुणे के अवर न्यायाधीश के पद पर हुई तब उन्होंने बम्बई छोड़ दिया। वहां फिर वह बारह वर्ष तक नहीं आए। हां, बीच में तीन महीने के लिए जरूर एक बार बम्बई आए थे।

अध्याय 4

समाज-सुधार का ध्वज

(1864–1871)

सन् 1862 में जब रानडे फैलो ही थे और बी. ए. आनर्स में पढ़ रहे थे, तभी वह 'इन्दुप्रकाश' नामक नये दैनिक के अंग्रेजी विभाग में सम्पादन का काम करने लगे। उन दिनों देश में विधवा-विवाह के विषय में अधिक चर्चा होती थी। केवल छह वर्ष पहले ही विधान परिषद ने एक बिल पास करके हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह से सभी कानूनी नियंत्रण हटा लिए थे। पश्चिमी भारत, नागपुर, मद्रास और बंगाल से प्राप्त अनेक आवेदन-पत्रों के फलस्वरूप ही यह बिल पास हुआ था। लेकिन इसके पक्ष में जनमत जाग्रत करने का काम बंगाल के अत्यन्त धर्मोत्साही, साहसी और अश्रांत नेता पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने किया। विधवा-विवाह के विरोधी अनेक थे, लेकिन समर्थक केवल गिने-चुने ही थे। विरोधियों और समर्थकों में 12:1 का अनुपात था। इससे प्रकट होता है कि इस बिल के प्रति जनता का विरोध कितना तगड़ा था। बिल पास होने के बाद पांच वर्षों में ही, सम्बन्धियों और मित्रों के विरोध के बावजूद पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों से 25 विधवा-विवाह सम्पन्न हुए। बम्बई में भी ऐसे विधवा-विवाह हुए। महाराष्ट्र में यह आन्दोलन विष्णु शास्त्री ने चलाया। उन्होंने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की पुस्तक का अनुवाद मराठी में करके यह सिद्ध किया कि हिन्दू धर्मशास्त्रों में भी विधवा-विवाह की अनुमति है। जब 'इन्दुप्रकाश' आरम्भ हुआ

तो वह नियम से हर सप्ताह विधवा-विवाह के विरोधियों के विचारों का खंडन करते हुए उसमें लिखने लगे। श्री शास्त्री दृढ थे, निर्भीक थे और विद्वान थे । रानडे भी उनके साथ मिल गए और 'इन्दुप्रकाश' के अंग्रेजी विभाग में इसी विषय के समर्थन में लिखने लगे। कुछ दिन बाद सन् 1865 में एक विधवा-विवाह संस्था कायम की गई, जिसके सेक्रेटरी विष्णु शास्त्री थे और प्रबन्ध-समिति के सदस्य रानडे थे। वह उसके प्रचार का काम भी करते थे। सार्वजनिक जीवन में रानडे का भाग लेना यहीं से आरम्भ हुआ ।

विधवा-विवाह हिन्दू समाज के आमूल सुधार के सामान्य आन्दोलन का एक अंग था । आज समाज सुधार के विषय में हम कह सकते हैं कि हम सभी सुधारवादी हैं। लेकिन डेढ़ सौ वर्ष पहले हम बहुत ही अनुदारवादी थे और उस समय समाज सुधार का कड़ा विरोध हुआ, जो बड़ा व्यापक था और अर्थवान भी। इसलिए इसके संक्षिप्त इतिहास का भी अवलोकन कर लें तो अच्छा रहेगा।

उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में हिन्दू धर्म विघटन के कगार पर पहुंच गया। पूरे भारत में सात सौ वर्ष के मुसलमानी शासन ने हिन्दू धर्म की कमर तोड़ दी थी । मुसलमान शासक उसे मूर्तिपूजकों का एक संप्रदाय समझते थे और अधिक कुछ नहीं। सभी सामाजिक संस्थाओं का नियन्त्रण धर्म ही करता था। प्राचीन समय में धार्मिक और सामाजिक विचारकों ने हिन्दुओं की सामाजिक संस्थाओं को समय के अनुसार ढालने की कोशिश की । लेकिन मुसलमानी शासन के दौरान धार्मिक ह्रास के कारण, सामाजिक विचारकों की यह कोशिश जहां की तहां रह गई। पणिक्कर कहते हैं, : "उस समय जो भी परिवर्तन हुए, वे सब संकुचित थे, स्थानीय थे और बहुत हद तक भाष्यकार की व्यक्तिगत होशियारी पर निर्भर थे।" धार्मिक और सामाजिक अधिकार उस पुरोहित वर्ग के हाथों

में आ गये थे, जो समाज के कल्याण के प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल बैठे थे। ये पुरोहित उन धर्मशास्त्रों का अनुसरण आंखें बन्द करके करते थे, जो युगों पहले लिखे गए थे और उसी प्राचीन समय के लिए लिखे गए थे। इस समय उनकी जो व्याख्या की जाती है, उसमें जनता के सांसारिक सुख का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज में अनेक ऐसी बुराइयाँ घर कर गईं जो न तो बुद्धिमत्तापूर्ण थीं और न न्यायसंगत। उनमें से मुख्य ये थीं—जातिप्रथा, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, बलात ब्रह्मचर्य पालन, विधवाओं द्वारा तापसी जीवन बिताना, विधवा का अपने पति की चिता में उसके साथ ही जलकर सती हो जाना, स्त्रियों के घटिया अधिकार, अलगाव और अज्ञान, पुरुषों द्वारा बहु-विवाह, विदेश यात्रा पर प्रतिबन्ध, शादी-ब्याह के मौकों पर अत्यधिक खर्चा, दहेज-प्रथा और धार्मिक अनुष्ठानों और समारोहों को शान-शौकत के साथ मनाना। उस समय हिन्दू-समाज के ऐसे ही हानिकारक और बोझिल नियम थे और वही सामाजिक नियम हिन्दू धार्मिक जीवन के अटूट अंग बन गए थे। उनको तोड़ना अपराध भी था और पाप भी। कभी-कभी कहीं कोई एकनाथ, कबीर या तुकाराम पैदा हो जाते थे जो जाति-प्रथा और धार्मिक असहिष्णुता तथा पशुबलि और नरबलि की निन्दा करते और विरोध करते थे। यद्यपि महात्माओं के रूप में उनका आदर किया जाता था और जनता पर उनका प्रभाव भी थोड़ा-बहुत था, किन्तु उनके द्वारा की गई सामाजिक कुरीतियों की आलोचना और निन्दा का सामान्य जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, और न उसने उनके विचारों का कभी समर्थन ही किया। लिंगायत और महानुभाव नामक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रवर्तक बासवा और चक्रकर ने जाति-प्रथा के उन्मूलन का प्रयत्न किया।

लेकिन उनके इस कार्य का स्वयं उनके चेलों पर यह प्रभाव पड़ा कि उनकी ही दो जातियाँ बन गईं। रिवाजों के कठोर हाथ संवेदना और दया के प्रवाह को एकदम रोक देते थे। आम आदमी के मन और मस्तिष्क में धर्म और सामाजिक नियम जुड़ कर ऐसे पक्के हो गए थे कि किसी भी नियम का थोड़ा-सा भी उल्लंघन धर्म का बहिष्कार समझा जाता था। इस प्रकार धार्मिक अनुमोदनों के अन्तर्गत उस समय का सामाजिक ढांचा खूब मजबूत हो गया था। वह इतना दृढ़ और कठोर हो गया था कि उसमें थोड़ा-सा भी परिवर्तन असम्भव था।

लेकिन एक समय ऐसा भी आया, जब उस गतिहीन, रुके हुए और सड़ांद से भरे हुए तालाब में कुछ हलचल पैदा हुई। तर्कवाद और मानवतावाद के जिन स्रोतों ने सत्रहवी शताब्दी से यरोपीय जीवन के धार्मिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक, विधिक और नैतिक क्षेत्रों को परिमार्जित और उत्प्राणित किया तथा उनका रूपान्तर किया, वही स्रोत अब भारत में भी प्रवाहित होने लगे थे। उनके प्रभाव सबसे पहले बंगाल मे दिखाई दिए। राजा राममोहन राय, जिनका जन्म सन् 1772 में हुआ था, बड़े विशिष्ट समाज-सुधारक थे। उनके विचार और कार्य बड़े मौलिक और स्वतन्त्र होते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा रहती थी। जब उन्हें फारसी, अरबी, और कुरानी साहित्य का अच्छा ज्ञान हो गया, तब उनका विश्वास बहु देववाद और मूर्तिपूजा से उठ गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी में काम करने के बाद वह अंग्रेजों के सम्पर्क में आए। इसके बाद जब उन्होंने अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया, तो उन्हें अनेक नई-नई बातें मालूम हुईं। सन् 1828 में उन्होंने हिन्दू धर्म के एक नए सम्प्रदाय 'ब्रह्म समाज'

की स्थापना की । पणिक्कर ने ब्रह्म समाज को 'यूरोपीय जागृति के सिद्धान्तों ओर उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का समन्वय' बतलाया है । ब्रह्म समाज के सामाजिक सिद्धान्त तत्कालीन स्त्रियों की स्थिति को ऊपर उठाने, जाति-प्रथा का उन्मूलन करने, छुआछूत, बहु-विवाह तथा समाज की अन्य अनेक बुराइयों को दूर करने का समर्थन करते थे । राजा राममोहनराय के शक्तिशाली आन्दोलन के फलस्वरूप ही सन् 1829 में सरकार ने विधवा के अपने पति के साथ सती हो जाने की भयंकर प्रथा को रोकने के लिए कानून पास किया। राजा राममोहन राय के विषय में कहा गया है कि 'उनके अन्दर नई आत्मा थी जो स्वतन्त्र खोजबीन करने में विश्वास करती थी, जिसे विज्ञान के लिए जिज्ञासा थी और जिसे मानव जाति से गहरी सहानुभूति थी ।' लगभग उसी समय ज्ञान की एक और नई विचारधारा का स्रोत पश्चिमी भारत में बहना आरम्भ हुआ । जैसा कि पहले कहा जा चुका है बम्बई के गवर्नर, एलफिंस्टन ने, पश्चिमी ज्ञान के प्रचार करने के लिए संस्थाएं खोली, जिनके द्वारा देश में स्वतन्त्र अन्वेषण की प्रवृत्ति, तर्कवादिता और मानववादिता का आरम्भ हुआ । एक के बाद एक अनुचित और कठोर रिवाजों की निन्दा की जाने लगी । एलफिंस्टन संस्थान के पहले भारतीय असिस्टेंट प्रोफेसर बालशास्त्री जम्बेकर ने इस नई प्रवृत्ति को सबसे पहले आरम्भ किया। पिछली शताब्दी की चौथी दशाब्दी में उन्होंने स्त्री शिक्षा और विधवा-विवाह के पक्ष में अपने साप्ताहिक पत्र 'दर्पण' में लिखा । सन् 1843 में श्रीपत शेपाद्रि नामक एक लड़के को ईसाई मिशन से वापिस हिन्दू जाति में मिलवा दिया । इस लड़के को ईसाई मिशन तो छोड़ना नहीं चाहता था और हिन्दू पंडित उसे स्वीकार नहीं करते थे। लेकिन बालशास्त्री जम्बेकर के प्रयत्नों से वह फिर से हिन्दू बना दिया

गया। दादोवा पांडुरंग, उनके वाद अधीक्षक वने। उन्होंने 1840 और 1846 के बीच 'परमहंस सभा' वनाई जिसके मुख्य उद्देश्य थे—जाति-पाँति का उन्मूलन, विधवा-विवाह का समर्थन और मूर्ति-पूजा का खंडन। वालशास्त्री के एक मित्र और विद्यार्थी भाऊ महाजन ने सन 1841 में "प्रभाकर" नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकालना आरम्भ किया। लोकहितवादी गोपालहरि देशमुख ने भी अपने पत्र में हिन्दू समाज में व्याप्त अनिष्टकारक रीति-रिवाजों के विरुद्ध लम्बे-चौड़े ओजपूर्ण लेख लिखने शुरू कर दिए। सन् 1843 से 1850 तक उनके 100 पत्र छपे, जिनमें सती-प्रथा, शिशु हत्या, वाल-विवाह, विधवा-विवाह पर प्रतिवन्ध, जाति व्यवस्था और छुआछूत आदि की कड़ी निन्दा की गई थी। एलफिस्टन संस्थान के छात्रों ने कई संस्थाएं आरम्भ की, जो हिन्दू समाज में सुधार करने के लिए और विशेषकर स्त्री शिक्षा को वढ़ावा देने के लिए ही आरम्भ की गई थीं। प्रोफेसर दादा भाई नौरोजी जैसे प्रबुद्ध और जगन्नाथ शंकर सेठ जैसे वम्वई के प्रभावशाली नागरिकों ने ये संस्थाएं स्थापित कीं और फिर उनका काम आगे वढ़ाया। 1849 के वाद में इन्ही संस्थानों ने पारसी लड़कियों के लिए स्कूल खोले और थोड़े दिनों वाद ही गजानन राव वैद्य ने हिन्दू लड़कियों के लिए भी एक स्कूल खोला। ज्योतिवा फूले ने, जो ईसाई मिशनरियों के माध्यम से पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आए थे, सन् 1848 में पूणे में लड़कियों का एक स्कूल खोला और सव ओर से कड़े विरोध के होते हुए भी अपनी पत्नी को उसकी प्रधानाध्यापिका वनाया। उन्होंने अछूतों के लिए भी एक स्कूल खोला। विधवा-विवाह के पक्ष में जो एक्ट पास हुआ उससे पहले और उसके वाद में खूव आन्दोलन हुए। इससे पता चलता है कि जनता की इस विषय में कितनी दिलचस्पी

थी। समाज सुधार आन्दोलन की प्रगति के इस मोड़ पर रानडे ने महसूस किया कि वह स्वयं भी इसी प्रवाह में बह गए हैं।

समाज सुधारकों को समाज के रूढ़िवादियों, ब्रिटिश सरकार और ईसाई मिशनरियों, तीनों का ध्यान रखना पड़ता था। इनमें से रूढ़िवादी या कट्टरपन्थी ही उनके पक्के विरोधी थे। यों तो पूरा समाज ही रूढ़िवादी था लेकिन कुछ लोग तो ऐसे थे कि किसी भी सामाजिक परिवर्तन को सामाजिक व्यवस्था पर कुठाराघात समझते थे और हर समय लड़ने को तैयार रहते थे। ब्रिटिश सरकार समाज सुधार के पक्ष में थी। जब कभी अत्याचार होते तो सुधारक लोग ब्रिटिश सरकार से अपनी रक्षा की आशा करते थे। सरकार यह देखती थी कि भारतीय समाज में कितने अनुचित और हानिकारक रीति-रिवाज हैं और वह कई बार कानून द्वारा और कई बार प्रशासन द्वारा उन्हें दबाने और सुधारने की कोशिश करती थी। सती-प्रथा, शिशु-हत्या, गंगा किनारे आत्महत्या तथा मन्दिरों के सामने आत्म-उत्पीड़न आदि ऐसी प्रथाएं थीं जो उस समय प्रचलित थीं। सरकार ने उनके विरुद्ध कानून बनाए। कानून और व्यवस्था में जाति परम्परा का ख्याल नहीं किया जाता था। कानून की निगाह में सभी लोग बराबर थे। यह सब तो था। लेकिन सरकार सामाजिक सुधारों की ओर अधिक ध्यान नहीं देती थी और न वह जनता का विरोध करके उसे अपने विरुद्ध ही करना चाहती थी, क्योंकि ऐसा करने से उसकी अपनी प्रगति में बाधा पड़ने की आशंका थी। लेकिन ईसाई मिशनरी भारतीय समाज की बुराइयों को निकालने से कभी नहीं चूकते थे। जब लोग धार्मिक मेलों, साप्ताहिक बाजारों या सार्वजनिक स्थानों पर जमा होते थे तो मिशनरी भी वहां जरूर जाते और हिन्दुओं की कमजोरियों का मजाक बनाते। उनका एक ही लक्ष्य था—हिन्दुओं को ईसाई

बनाना। अतः हिन्दुओं में सामाजिक सुधारों द्वारा ही मिशनरियों के इस लक्ष्य का मुकाबला हो सकता था।

आज सौ वर्ष बाद यह बतलाना आवश्यक हो गया है कि सन 1860 में सामाजिक सुधारक इतना ध्यान स्त्रियों की समस्याओं पर क्यों देते थे। उस समय का स्त्री-समाज बहुत पददलित था। शिक्षा की तो बात ही क्या, उस समय के रिवाज स्त्रियों को चार अक्षर भी पढ़ने की अनुमति नहीं देते थे। पुरुषों की उपस्थिति में वे समाज में किसी से मिल-जुल भी नहीं सकती थीं। उन्हें केवल घर-गृहस्थी के काम और शारीरिक श्रम ही करने की अनुमति थी। उनके पति उनके जीवन में ही एक से अधिक स्त्रियों से, जब उनका जी चाहे, विवाह कर सकते थे, लेकिन वे पति के मरने के बाद भी दूसरी शादी करने की बात स्वप्न में भी नहीं सोच सकती थीं। उस समय शादियां बचपन में ही हो जाया करती थीं। इसीलिए स्त्री अथवा पुरुष के, मृत्यु के कारण अलग हो जाने की सम्भावना बहुत रहती थी। स्त्री की मृत्यु के बाद पुरुष तो दूसरा विवाह कर लेता था, लेकिन पति की मृत्यु के बाद बाल-विधवा को पूरा जीवन एकान्तवासिनी रह कर, कठोर हृदय कुटुम्ब की गुलामी करते हुए ही, बिताना पड़ता था और यदि कोई विधवा कामवासना में प्रवृत्त हो गई तो बस उसे बड़ी ही कठोर अमानुषिक सजा भुगतनी पड़ती थी। यदि लड़की का विवाह छोटी ही उम्र में न किया जाए या किसी स्त्री को अक्षरों का ज्ञान हो जाए अथवा कोई स्त्री खाना बनाने, बच्चे पालने और गृहस्थी के शारीरिक श्रमसाध्य कार्यों को करने के अतिरिक्त कुछ और दूसरे काम भी करने में अपना समय व्यतीत करने लगे, तो कहा जाता था कि धर्म का अनादर हो रहा है। विधवा को अपने सिर के बाल भी मुंडवा देने पड़ते थे। घर में पुरुष का ही राज्य चलता था। जो वह कहता था वही घर का कानून था और वही होता था।

ऐसे दो व्यक्ति थे जिन्होंने रानडे को समाज सुधार के काम में लगाया। उनमें से एक तो गोपालहरि देशमुख या लोकहितवादी थे। जिन्होंने सन् 1862 में 'इन्दुप्रकाश' नाम का पत्र निकाला, और दूसरे विष्णु शास्त्री पंडित थे, जिन्होंने 1865 में 'विधवा विवाह उत्तेजक मंडल' की स्थापना की। यह संस्था विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देने के लिए बनाई थी। गोपालहरि देशमुख का जन्म 1823 में सरदारों के एक कुटुम्ब में हुआ था और अब वह ब्रिटिश सरकार के न्यायिक विभाग में काम करते थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उन्होंने अपने 'सौ पत्र' छपवाए थे जिनमें हिन्दुओं के कठोर और विनाशक रिवाजों की बुरी तरह निन्दा की गई थी। समाज की जैसी कठोर और गंभीर आलोचना उन्होंने की वैसी और किसी ने कभी नहीं की। उन्होने विधवा-विवाह के विरोधियों से कहा, "तुम लोग बारह, पन्द्रह, बीस और तीस वर्ष की लड़कियों की हत्या कर रहे हो। इस पर क्या हमारा खून नहीं खोलेगा। तुम स्वयं अपनी बेटियों को कसाइयों की तरह निर्ममता से काट रहे हो।" सन 1861 में गोपालहरि देशमुख की बदली बम्बई हो गई। वहां जाकर उन्होंने एक नया पत्र 'इन्दुप्रकाश' आरम्भ किया और रानडे को उसके अंग्रेजी विभाग का सम्पादक बनाया।

विष्णु परशुराम पंडित का जन्म सन् 1827 में हुआ और उनका लालन-पालन सतारा में हुआ। उन्होंने पहले संस्कृत और शास्त्रों का अध्ययन किया और बाद में अंग्रेजी का। कुछ दिन उन्होंने सरकारी नौकरी की, लेकिन उनका उसमें मन नहीं लगा और उन्होंने इस्तीफा दे दिया। विधवाओं के कष्ट देखकर उन्हें उनसे बहुत सहानुभूति होती थी। उन्होंने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की पुस्तक का अनुवाद मराठी में किया, जिसमें सिद्ध किया कि विधवा-विवाह की अनुमति तो शास्त्र भी देते हैं। निम्नलिखित

पंक्तियों से उनकी भावनाओं की गम्भीरता का पता चलता है। "जिनकी बेटियों, बहिनों, बहुओं या अन्य निकट सम्बन्धियों के पतियों की मृत्यु बचपन में ही हो गई है, वही विधवाओं की कड़ी यातनाओं का अन्दाज लगा सकते हैं। भारत की कमजोर अकेली स्त्री का कोई मित्र नहीं है और उसके असहनीय कष्टों का कोई अन्त नहीं है।" वह लोकहितवादी पत्रकारिता सम्बन्धी योजना में शामिल हो गए और हर सप्ताह इसी विषय पर अपने हृदय के उद्गार निकालते रहे।

विधवा विवाह उत्तेजक मंडल के बनने से बड़ी खलबली मच गई। मंडल का निर्णय था कि हिन्दू शास्त्रों में विधवा विवाह की अनुमति है तथा ब्राह्मण शास्त्रियों द्वारा की गई उनकी व्याख्या गलत है। महाराष्ट्र में शास्त्रीय व्याख्याओं के गम्भीर झगड़े कोल्हापुर के पास करवीर मठ के शंकराचार्य के पास ले जाए जाते थेऔर उन्हीं के फैसले को सब लोग स्वीकार कर लेते थे। मंडल बनने के कुछ ही दिन बाद किसी ने विधवा-विवाह के विषय में अपना निर्णय देने के लिए शंकराचार्य से कहा। उन्होंने इसका कुछ भी उत्तर उस समय नही दिया और कहा कि अगली बार आकर इसका उत्तर दूंगा। लेकिन पक्के कट्टरपन्थी शास्त्री इस विधवा-विवाह संस्था को धर्म के लिए कण्टक समझते थे। उन्होंने पूरी तौर से उसका सामना करने के लिए 'हिन्दू धर्म व्यवस्थापक सभा' की स्थापना की। यह संस्था हिन्दू धर्म को व्यवस्थित करने के लिए कायम की गई थी। इसके बाद दोनों संस्थाओं में जोरदार झगड़ा हुआ। विष्णु शास्त्री ने ब्राह्मणों की चुनौती को स्वीकार किया और फिर विधवा-विवाह के विरोधियों के साथ बम्बई तथा महाराष्ट्र के अन्य नगरों में सार्वजनिक रूप से वाद-विवाद किया। दोनों ही पक्ष अपने समर्थन के लिए शास्त्रों के अवतरण उद्धृत

करते थे। भारतीय परम्परा तो अवश्य विधवा-विवाह के विरुद्ध थी, लेकिन तर्क और न्याय उसके पक्ष में थे।

जब विष्णु शास्त्री ने समाचार-पत्र में घोषणा की कि एक विधवा स्त्री फिर से शादी करने के लिए तैयार है, इसके लिए प्रस्ताव आमन्त्रित हैं, तो उनकी लड़ाई ने एक नया ही रूप धारण कर लिया। रूढ़िवादियों के दल में उत्तेजना फैल गई। और जब उस स्त्री के विवाह के लिए सार्वजनिक निमन्त्रण जारी किया गया, तब तो वे लोग गुस्से से लाल-पीले हो गए। उस निमन्त्रण-पत्र पर सात व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे—गोपालहरि देशमुख, विष्णु शास्त्री पंडित, महादेव गोविन्द रानडे, जनार्दन सखाराम गाडगिल, विष्णु परशुराम रानडे, श्री कृष्णाशास्त्री तालेकर और विष्णु मोरेश्वर भिड़े। ये ही लोग जो सहानुभूति से ओतप्रोत थे, विद्वान और साहसी थे। उन्होंने यह निमन्त्रण चुनौती के रूप में भेजा था।

उनकी विद्वता और साहस की जांच तुरन्त ही हो गई। रूढ़िवादी पंडित, सुधारवादियों के पास गए और उनसे कहा कि विवाह का कार्यक्रम आरम्भ करने से पहले आप लोग हम लोगों से सार्वजनिक रूप से शास्त्रार्थ कर लें। उन्होंने ऐसे एक सम्मेलन की घोषणा कर दी और सुधारवादियों से उसमें भाग लेने की आशा की। एम० जी० रानडे, विष्णु परशुराम रानडे, वागले तथा कुछ अन्य लोग उस मीटिंग में गए। वे विधवा-विवाह के पक्ष में वाद-विवाद करने के लिए तैयार थे लेकिन उन्होंने कहा कि हम विवाह के कार्यक्रम को स्थगित नहीं करेंगे। इस प्रकार एक गतिरोध आ गया और वह मीटिंग बीच में ही भंग हो गई। अब इन रूढ़िवादियों ने सुधारवादियों के विरुद्ध बलवा करने का आरोप लगा कर फौजदारी का मुकदमा दायर कर दिया। लेकिन मजिस्ट्रेट ने उसे

खारिज कर दिया। कुछ लोगों ने विष्णु शास्त्री पंडित को धमकी दी कि हम 'इन्दुप्रकाश' प्रेस में आग लगा देंगे, शादी का पंडाल जला देंगे और अगर इससे भी कुछ नहीं होगा तो तुम्हें जान से मार डालेंगे। विष्णु शास्त्री पंडित ने उन लोगों की रिपोर्ट पुलिस में कर दी। फलस्वरूप उन लोगों से जमानतें देने के लिए कहा गया और अन्त में 15 जून, 1869 को मोरावा कान्होवा नामक एक समाज सुधारक के आंगन में खूब घूमधाम से विवाहोत्सव मनाया गया। इस समारोह में सभी जातियों के अनेक लोगों ने भाग लिया। अब तो इन रूढ़िवादियों का क्रोध और भी आसमान पर चढ़ गया और वे अपनी हार का बदला लेने की युक्तियां सोचने लगे। उन्होंने सुधारक व्यक्तियों का सामाजिक बहिष्कार करने का निर्णय लिया। उन्होंने एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया और जनता का समर्थन प्राप्त किया। इसके बाद वे लोग शंकराचार्य के पास गए और उनकी भी स्वीकृति ले आए। इस प्रकार दोनों ही समर्थनों को प्राप्त करके उन्होंने हिन्दू समुदाय के सभी सदस्यों को आदेश भेज दिए कि निमंत्रण पर हस्ताक्षर करने वाले सातों आदमियों, नवविवाहित पति-पत्नी, लड़की के दोनों भाइयों और उन सभी लोगों का जिन्होंने शादी की दावत खाई थी, बहिष्कार कर दिया जाए और उनसे किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध न रखा जाए। बहिष्कार का यह आज्ञापत्र विभिन्न नगरों में बड़ी-बड़ी सार्वजनिक सभाओं में, जिनमें लोगों ने हजारों की संख्या में भाग लिया, पढ़ा गया। बड़े जोरदार उत्तेजनापूर्ण भाषण दिए गए। इसके उत्तर में विष्णु शास्त्री ने भी पर्चियां बांटी, जिनमें लिखा था कि शास्त्र विधवा-विवाह की अनुमति देते हैं, उसका समर्थन करते हैं, इसलिए बहिष्कार का आज्ञापत्र रद्द समझा जाए। उन्होंने कहा कि मैं किसी से भी इस विषय पर शास्त्रार्थ

करने के लिए तैयार हूं कि शास्त्र विधवा को न्यायसंगत और उचित ठहराते हैं। विष्णु शास्त्री की चुनौती को करहाड के एक विद्वान शास्त्री विठोवा अन्ना दप्तरदार ने जो प्रभावशाली वक्ता था, स्वीकार कर लिया। कुछ समय तक पूणे में आयोजित कई सभाओं मे दोनों वक्ता एक दूसरे के विचारों का खंडन करते रहे। सन् 1870 में शंकराचार्य की उपस्थिति में एक सभा बुलाई गई और उसमें नियमित रूप से शास्त्रार्थ हुआ। उसके लिए एक निर्णायक (पंच) मंडल बनाया गया, जिसमें दोनों तरफ के आदमी चुने गए। उस समय जो भी प्रश्न उठाया गया और उस पर जो वाद-विवाद हुआ, वह सब लिख लिया गया। दूसरे दिन विरोधी पक्ष को लिखित उत्तर देना था या फिर एक नया ही प्रश्न उठाना था। इस महान शास्त्रार्थ को देखने के लिए पूणे के लोग तो इकट्ठे हुए ही थे, वाराणसी, ग्वालियर, नागपुर, और सांगली आदि अनेक दूर-दूर के स्थानों से भी लगभग दो सौ व्यक्ति आए थे। सुधारवादी पार्टी की अध्यक्षता विष्णु शास्त्री पंडित ने की थी और उनके सहायक थे जे० एस० गाडगिल, आर० जी० भण्डारकर और महादेव रानडे। विरोधी पक्ष के अध्यक्ष नारायणाचार्य गजेन्द्र गडकर थे और उनके सहायक थे विनोवा अन्ना तथा अन्य लोग। नौ दिन तक वहस होती रही। अन्त में निर्णायकों ने सुधारवादी पार्टी के विरुद्ध निर्णय दिया। इसी के आधार पर शंकराचार्य ने भी अपना दंड सुना दिया कि जो लोग अपराधी हैं, उन्हें प्रायश्चित करना पड़ेगा। सुधारवादी पार्टी के लगभग 175 सदस्यों ने प्रायश्चित किया। लेकिन जिन सात व्यक्तियों ने निमंत्रण-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे, वे नहीं झुके। उन्होंने समाज से अपने वहिष्कार को ही स्वीकार किया। तीन महीने के वाद उनमें से एक, गोपालहरि देशमुख झुक गए। उनकी वेटी की सास ने उन्हें

कहलवाया कि यदि आप प्रायश्चित नहीं करेंगे तो मैं आपकी बेटी को घर से निकाल दूंगी और अपने बेटे की शादी दूसरी जगह कर दूंगी। इस बात ने देशमुख को बड़ी कठिन परिस्थिति में डाल दिया। उन्होंने प्रायश्चित तो किया, पर यह भी घोषणा कर दी कि मैंने दबाव में आकर ही प्रायश्चित किया है। मेरे विचार जैसे पहले थे वैसे ही अब भी हैं। उनमें कोई परिवर्तन नही आया। ऐसी ही परिस्थितियों के कारण और भी तीन लोगों ने हार मान ली। महादेव रानडे, विष्णु शास्त्री पंडित और विष्णु परशुराम रानडे ने अन्त तक जनता के अत्याचारों का सामना किया। इसी समय वी० पी० रानडे की मृत्यु हो गई। विष्णु शास्त्री पंडित ने निर्भीकता से स्वयं ही एक विधवा से विवाह कर लिया। महादेव रानडे विधवा-विवाह के पक्ष में निरन्तर पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहे, यहां तक कि उन लेखों की संख्या दो सौ तक पहुंच गई। इन तीनों व्यक्तियों को निरन्तर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। लेकिन वे अपने लक्ष्य से पीछे नही हटे। व्यक्तिगत रूप से रानडे को इतनी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा क्योंकि एक तो वह आर्थिक रूप से स्वतन्त्र थे और दूसरे वह उच्च सरकारी पदाधिकारी थे। जब भी कभी उन्हें कोई धार्मिक अनुष्ठान आदि करने होते थे तो कोई न कोई समझदार सनातनी आ कर उनका काम करवा ही देता था। अपने छोटे भाइयों के विवाह के समय भी उन्हें पुरोहितों के मिलने में कोई कठिनाई नहीं हुई। लेकिन फिर भी समय-समय पर उन्हें बेइज्जती और मानसिक यंत्रणा तो सहन करनी ही पड़ती थी। काफी दिनों बाद सन् 1886 में उन्होंने विलियम हन्टर को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने बहिष्कार के दौरान अपने अनुभवों का वर्णन किया था। उन्होंने

लिखा था, "मेरी छोटी बहिन जो मेरे साथ ही बम्बई में रहती थी, उसकी ससुराल वालों ने बुला लिया और फिर वे हमें आपस में मिलने नहीं देते थे। कभी-कभी वह चोरी-छिपे मुझसे मिलने आ जाती थी। मेरे ब्राह्मण नौकर काम छोड़ कर चले गए। फिर जब मैंने नया नौकर रखा तो वह भी अपने बहिष्कार के डर से नौकरी छोड़ कर भाग गया। सामाजिक समारोहों पर हमें निमन्त्रण आने बन्द हो गए। जब हमारे घर की स्त्रियां कहीं जाती थीं तो उनको अपमानित किया जाता था। यह स्पष्ट रूप से प्रकट कह दिया गया था कि हमारे साथ किसी भी प्रकार का सम्पर्क स्थापित नही किया जा सकता। यदि कहीं परिवार में किसी की मृत्यु हो जाती तो अन्त्येष्टि करवाने के लिए लोग मिलने कठिन हो जाते थे। हमें स्वयं ही अन्तिम संस्कार करने पड़ते थे। बहिष्कार से पहले मेरे कुटुम्ब में जिन लोगों के विवाह सम्बन्ध पक्के हो गए थे, वे अब रद्द कर दिए गए थे। लेकिन हम अपने लक्ष्य पर डटे रहे। हमने और भी कई विधवा-विवाह करवाए। सन 1871 में जब सरकारी काम से मैं पूणे गया तो मेरे बूढ़े पिता मेरे साथ रहने के लिए मेरे पास आए। मेरे किए का फल कही उन्हें भी न भुगतना पड़े, यह सोच कर मैंने उनके साथ खाना नहीं खाया। मैं कुछ दूरी पर बैठ कर खाना खा लेता था।

कुछ वर्ष बीतते-बीतते जनता का क्रोध ठंडा पड़ गया, और धीरे-धीरे निषेधात्मक भावनाएं भी ढीली पड़ती गई और अन्त में सामान्य सामाजिक सम्बन्ध भी फिर से स्थापित हो गए। सन् 1865 से 1873 तक के उस तनावपूर्ण समय में रानडे ने विधवा-विवाह के लिए और भी दो तरीके अपनाए। एक तो उन्होंने सभी प्रान्तों के सुधारकों से पत्र-व्यवहार द्वारा सम्बन्ध स्थापित किए और फिर

उनसे आग्रह किया कि वे अपने-अपने प्रान्तों में विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देने के लिए संस्थाएं स्थापित करे, उसके लिए प्रचार करें, शास्त्रों के विशेषज्ञों से मिलकर इस विषय में और भी जानकारी प्राप्त करें और सार्वजनिक वादविवाद में विधवा-विवाह का समर्थन करें। ये पत्र प्रभावशाली व्यक्तियों को भेजे गए। इनका प्रभाव भी हुआ तथा थोड़ा बहुत कार्य भी इस दिशा में हुआ। पत्रकारों को भी इसका पता चल गया। रानडे ने देश के सभी भागों में बड़े-बड़े लोगों को जो पत्र भेजे, उनसे विधवा-विवाह की समस्या में लोगों की और भी दिलचस्पी हो गई। उनके इस पत्र-व्यवहार के अतिरिक्त बंगाल में इसी समय ब्रह्म समाज भी बड़े जोर-शोर से विधवा-विवाह की समस्या सुलझाने के लिए कार्य कर रहा था। सन् 1864 से 1869 तक के समय में ब्रह्म समाज के तत्वावधान में आठ विधवाओं के विवाह करवाए गए। पंडित सीतानाथ तत्वभूषण के अनुसार, "कई विधवाओं को तो उनके माता-पिता के घरों से चुरा कर लाया गया और उनके विवाह करवाए गए। समाज के सदस्यों ने अमानवीय यन्त्रणाओं से छुटकारा दिलवाने के लिए जिस उत्साह से विधवाओं को ला-ला कर उनके विवाह करवाए उससे उनके नैतिक बल और कर्तव्य के प्रति उनकी सच्ची निष्ठा का पता चलता है।" उस काल में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बंगाल के कार्यकर्त्ताओं में से जिसने सबसे अधिक लगन से काम किया वह थे शशिपाद बनर्जी। उन्होंने अपना कार्य 1868 में शुरू किया। गुजरात में करसनदास मूलजी और उनके मित्र माधवदास रघुनाथदास ने जो बड़े जोशीले सुधारवादी थे, सन् 1871 से विधवा-विवाह को लक्ष्य बना कर बड़े उत्साह और लगन से काम किया। इन्ही उत्तेजना पूर्ण वर्षों में रानडे ने विधवा-विवाह तथा अन्य सामाजिक रीति-रिवाजों के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए हिन्दू शास्त्रों का व्यापक और गहन अध्ययन किया।

वह विष्णु शास्त्री का बड़े-बड़े शास्त्रार्थों में समर्थन करना चाहते थे, इसलिए इतना परिश्रम उन्होंने किया। जब सन् 1870 के विवाद में निर्णायकों ने विरोध में अपना फैसला सुनाया तो वह और भी अधिक लगन और तीव्रता से वेदों, स्मृतियों, पुराणों तथा इतिहास के अध्ययन में लग गए। और परिस्थितियों को अच्छी तरह से समझा। बाद में अपने इसी अध्ययन के आधार पर उन्होंने विधवा-विवाह के विषय पर एक विस्तृत और व्यापक लेख लिखा।

अध्याय 5

विशुद्ध धर्म का मंच

(1864–1871)

जिस समय रानडे ने सामाजिक सुधार के आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ किया, लगभग उसी समय वे प्रार्थना समाज में शामिल हुए जो एक धर्म सुधार सम्बन्धी संस्था थी।

बचपन में ब्राह्मणों की तरह पालन-पोषण होने के कारण रानाडे के विचारों में धार्मिक पुट था। वह स्नान करते समय प्रतिदिन पुरुष-सूक्त का पाठ किया करते थे। पन्द्रह वर्ष की आयु में जब वह एलफिस्टन कॉलेज में दाखिल हुए तब भी उनके हृदय पर हिन्दू धर्म की छाप अवश्य रही होगी। लेकिन जब उन्होंने पाश्चात्य विज्ञान, संस्कृति और साहित्य का अध्ययन किया तो उनकी हिन्दू धर्म सम्बन्धी धारणाएं नए ज्ञान के सम्पर्क में आईं। वह एक और विशिष्ट कक्षा में जाने लगे जिसमें बटलर की लिखी ईसाई धर्म की पुस्तकों का विशेष अध्ययन किया जाता था। बटलर की 'एनेलोजी' 1861 की सीनियर स्कालरशिप परीक्षा के लिए निर्धारित थी। वैसे तो इस समय तक रानडे को हिन्दू धर्म की सभी बातें मालूम हो गई थीं लेकिन उन्होंने कभी उनका अध्ययन नहीं किया था। अपनी परीक्षा के एक उत्तर में उन्होंने लिखा, "मुझे ब्राह्मण धर्म के तरीकों और पद्धतियों के विषय में बहुत कम मालूम है, फिर भी मैं इतना जरूर कह सकता हूं कि वे बेकन के विचारों के पूर्ण रूप से विरुद्ध हैं। उसमें बेचैनी, पूर्ण आन्दोलन और सैद्धान्तिक हठधर्मी भरी पड़ी है, जबकि बेकन ने इन बातों की निन्दा की है। जिस धार्मिक जाल ने हम सबको

जकड़ रखा है वह सब उन्ही ब्राह्मणों के मस्तिष्क की उपज है और वह जाल किसी की भी समझ में नही आता।" इसके विपरीत वे बेकन के विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे। उस समय अनेक तर्कवादी ईसाई धर्म के विश्वास के विरुद्ध तर्क की तुला पर तोला करते थे। बटलर उन विचारकों में से थे जो ईसाई धर्म को तर्क की तुला पर तोलते थे। पर साथ ही उस पर विश्वास भी करते थे। उस समय तक रानडे ने थोड़ा-सा ही धार्मिक अध्ययन किया था, लेकिन फिर भी वह यही कहते थे कि हिन्दू धर्म का भी ऐसा ही तार्किक परीक्षण होना चाहिए। स्वभाव से वह आंतरिक जीवन के प्रति गंभीर विचारशील थे, आसानी से मिल जाने वाले भोग-विलास के प्रति भी उनकी कोई रुचि नही थी। जब उन्हें क्रोध आता था तो उसे पी जाते थे। इन सब बातों से मालूम होता है कि उनके अन्दर बड़ी आध्यात्मिक शक्ति थी। देश की हालत को देखकर उन्हें लगा कि धर्म के प्रति गलत धारणा ही देश के अनेक संकटों का कारण है। सन् 1864 में उन्होंने कहा कि हमारे देश में प्रारब्ध, पिछले जन्मों के संचित पापों और दैवी अप्रसन्नता के ऊपर बहुत विश्वास किया जाता है। इसीलिए यहां जनसंख्या बढ़ती चली जा रही है। 'प्रारब्ध' का कीड़ा हमारी क्षमता और साहस को खाए जा रहा है। हिन्दुओं के अनेक आपत्तिजनक रिवाज उनके धर्म से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। इस प्रकार ईसाई धर्म के आलोचकों की तर्कपूर्ण व्याख्या, आन्तरिक शान्ति की ओर उनका अपना झुकाव तथा उनकी यह धारणा कि अनेक सामाजिक और आर्थिक कष्टों का कारण हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज ही हैं आदि ऐसे अनेक कारण थे, जिन्होंने रानडे को हिन्दू धर्म में सुधार करने के लिए प्रेरित किया। इसलिए सन् 1867 में जब उनके कुछ सहकर्मियों और कुछ धार्मिक विचारों वाले लोगों ने हिन्दू धर्म को तर्कसंगत रूप देने के लिए एक संस्था

वनाई, तो रानडे ने तुरन्त उसकी स्वीकृति दे दी और एक वर्ष वाद वह स्वयं भी उसमें शामिल हो गए। इसी संस्था का नाम प्रार्थना समाज था।

यह समाज किसी के मस्तिष्क की उपज नही वल्कि पूरे देश के सर्वतोमुखी आन्दोलन की देन था। तर्क के वीज भारत में पश्चिम से आ रहे थे। समय आने पर बीज अंकुरित हुए। अव प्रचलित परम्पराओं पर से विश्वास उठने लगा, आस्थाओं और रूढ़ियों की जकड ढीली पड़ने लगी और लोगों में किसी भी चीज को स्वीकार करने मे पहले उसके विषय में पूछताछ करने तथा वहस करने का साहस पैदा हो गया। उस समय प्रचलित धर्म में वहुत-सी वाते ऐसी थीं जो तर्क के सामने ठहर ही नही सकती थी। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि धर्म वेजान और खोखला वन गया था, अनगिनत धार्मिक कृत्यों और अनुष्ठानों ने उनकी आत्मा को कुचल दिया था। कोई भी पूजा करने के लिए अनेक व्रत, उपवास और मनौतिया करनी पड़ती थीं। लम्बे चौड़े अनुष्ठान, तपस्या और वड़े-वड़े भोज देना एक फैशन वन गया था। इससे आन्तरिक आत्मिक उन्नति में वाधा पड़ती थी क्योंकि मन अनुष्ठानो आदि में ही फसा रहता था। धर्म केवल एक प्रथा और आदत वन कर रह गया था। उससे कोई आध्यात्मिक शान्ति नहीं मिलती थी। आचरण के अत्यन्त पेचीदे नियम वनाए गए थे। उनके अनुसार जातियों और व्यक्तियों के आपसी मिलने-जुलने पर प्रतिवन्ध लगे हुए थे और उन्हें धर्म का रूप दे दिया गया था। यदि कोई उन नियमों का उल्लंघन करता था तो उसे कड़ी सजा मिलती थी। जिन पुस्तकों मे ये नियम और अनुष्ठान लिखे हुए थे पूर्णतया प्रामाणिक मानी जाती थी। लेकिन अव भारत में पश्चिम की ओर से जो तर्क की धारा प्रवाहित हो रही थी उसमें विश्वासों के इस ढांचे को हिला कर रख दिया। सवसे

पहले बंगाल अंग्रेजों के सम्पर्क में आया था, इस कारण धार्मिक अविश्वास की इस प्रवृत्ति का आरम्भ सबसे पहले वहीं हुआ। धार्मिक क्षेत्र में जो परिवर्तन भारत मे हुआ उसकी तुलना यूरोप के रिफार्मेशन (धार्मिक विप्लव) से की जा सकती है। इस भारतीय धार्मिक विप्लव को आरम्भ करने वाले बंगाल के महान सुधारक राजा राममोहन राय थे। आधुनिक काल में वही पहले भारतीय थे जिन्होने धर्म के क्षेत्र मे तर्कपूर्ण जिज्ञासा की प्रवृत्ति आरम्भ की। धार्मिक वृत्ति वाले इस युवक ने अरबी, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्यों का अध्ययन किया और अब वह इन्हीं भाषाओं में धार्मिक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहता था। अनेक धर्मों के आलोचनात्मक अध्ययन के बाद सन् 1828 में राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज नामक एक नए धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसमें अनेक देवी-देवताओं के स्थान पर केवल एक ही परमात्मा की उपासना का उपदेश था तथा मूर्ति-पूजा, सती-प्रथा, विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध, पुरुषों द्वारा बहु-विवाह और जाति-प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों की भर्त्सना की गई थी। ब्रह्म समाज केवल एक परमात्मा को मानता था जो अनादि था, अज्ञेय था, निर्विकार था तथा वही इस संसार को उत्पन्न करने वाला और उसकी रक्षा करने वाला था।

बम्बई में भी हिन्दू धर्म के बारे में ऐसे ही विचार उभरने लगे थे। बाल शास्त्री जम्बेकर, उनके विद्यार्थी तथा अन्य लोग भी, जो अंग्रेजों के सम्पर्क में आए और जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा ग्रहण की थी, सब यह समझने लगे थे कि हिन्दू समाज के पतन का कारण लोगों में अन्ध विश्वास और कुरीतियां ही हैं। ईसाई मिशनरियों के धर्म-परिवर्तन करने के कार्य-कलापों के कारण भी वे लोग चिन्तित थे। लोकहितवादी नामक उनके एक साथी ने 1848-1850 में प्रकाशित अपने एक 'पत्र' में लिखा कि केवल एक ही भगवान की सच्चे मन से

उपासना करनी चाहिए। बड़े-बड़े अनुष्ठानों और विधि-विधानों को वन्द करके केवल दीक्षा, विवाह और अन्त्येष्टि के समारोह करने चाहिए, वह भी संस्कृत में न करके अपनी-अपनी मातृभाषा में। स्त्री-पुरुष को समान धार्मिक अधिकार होना चाहिए। धार्मिक अनुष्ठानों के वजाय अच्छे कर्मों पर जोर देना चाहिए तथा सभी जातियों को एक समान समझना चाहिए। इनमें राम बालकृष्ण जयकर नाम के एक और व्यक्ति थे जो बंगाल के ब्रह्म समाज के प्रसिद्ध नेता ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के सम्पर्क में आए। उनकी विद्वता, वाक्-पटुता, राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए उत्कण्ठा, धार्मिक जोश और उत्साह ने राम बालकृष्ण को बहुत प्रभावित किया। राम बालकृष्ण ने अपने कुछ मित्रों को इकट्ठा किया और धर्म सुधारकों की एक सोसाइटी वनाई। यह सोसाइटी सन् 1840 और 1846 के बीच आरम्भ की गई और इसका नाम 'परमहंस सभा' रखा गया। राम वालकृष्ण उसके अध्यक्ष और दादोवा पांडुए एवं आत्माराम पांडुए प्रधान नेता वने। उनके धार्मिक सिद्धान्त थे—मूर्तिपूजा की निन्दा, केवल एक ईश्वर पर विश्वास, ईश्वर को परमपिता मानना, मानव जाति से भाईचारा, जातिप्रथा का नाश तथा विधवा-विवाह का प्रचार। जातिप्रथा की समाप्ति पर उसने अत्यधिक बल दिया। जो भी व्यक्ति इस सोसाइटी का सदस्य होना चाहता था, उसे पहले जाति का त्याग करना पड़ता था और इसके लिए उसे ईसाई की वनाई हुई रोटी खानी पड़ती थी। धीरे-धीरे इस सभा के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी और कई नगरों में इसकी शाखाएं खुल गईं। उन दिनों जातिप्रथा की अवज्ञा करना भारी अपराध समझा जाता था। इसलिए परमहंस सभा ने अपने अस्तित्व को तब तक छिपा कर रखा जब तक उसके सदस्यों की संख्या काफी बड़ी नहीं हो गई। लगभग सन् 1860 में कुछ लोगों ने जनता को उसके अस्तित्व और

उसके सिद्धान्तों के विषय में बतला दिया तथा उसके सदस्यों के नाम भी घोषित कर दिए। इसके फलस्वरूप लोगों ने इसे छोड़ दिया और धीरे-धीरे उसका अन्त ही हो गया। फिर भी कुछ ऐसे सदस्य थे जो उसके सिद्धान्तों को प्रोत्साहन देते रहे। सन् 1864 में जब ब्रह्म समाज के महान नेता और प्रवक्ता केशवचन्द्र सेन बम्बई गए और उन्होंने धार्मिक जोश को जागृत किया तो इन सदस्यों को प्रेरणा मिली और तब उन्होंने अपनी सोसाइटी को नया नाम देकर खुले और पक्के तौर पर फिर से चलाने का निश्चय किया। वे लोग आपस में मिले और उन्होंने कुछ नौजवानों जैसे बाल मंगेश वागले और नारायण महादेव परमानन्द आदि को जो रानाडे के समकालीन थे, इकट्ठा किया तथा सोसाइटी के आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में बातचीत की और अन्त में सन् 1867 में ब्रह्म समाज के नमूने पर ही प्रार्थना समाज नामक एक संस्था कायम की। इस प्रार्थना समाज के सिद्धान्त ये थे—ईश्वर एक है और निराकार है, उसकी मानसिक पूजा करना हमारा कर्त्तव्य है। मूर्ति पूजा का मार्ग गलत है—इससे ईश्वर का अपमान और मनुष्य का पतन होता है। ईश्वर सृष्टिकर्ता है और हमें उसी का ध्यान करना चाहिए। उसी से हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमें गलत रास्ते से हटा कर सत्पथ पर लगा दे, जिससे हम अपने जीवन में अच्छे कर्म करें। उसका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए हमें उसकी प्रार्थना करनी चाहिए और अनजाने में तथा अपनी कमजोरियों के कारण हमने जो भी अपराध किए हों, उन्हें क्षमा करने की प्रार्थना करनी चाहिए। सामूहिक साप्ताहिक प्रार्थना ही इस 'समाज' की विशिष्टता थी। रूढ़िवादियों के इस दावे को कि प्रचलित हिन्दू धर्म ही वास्तविक धर्म है, 'समाज' ने चुनौती दी। उसकी मान्यता थी कि धार्मिक कृत्य, मूर्ति-पूजा, जाति-प्रथा, छुआछूत तथा विधवा-विवाह पर प्रतिबन्ध आदि अनावश्यक हैं और प्राचीन हिन्दू धर्म के बिलकुल विपरीत हैं।

जिस समय प्रार्थना समाज की स्थापना हुई उस समय रानडे वम्बई में नहीं थे। उस समय वह कोल्हापुर में न्यायाधीश के पद पर काम कर रहे थे। रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर भी रत्नगिरि में हैडमास्टर के पद पर थे। लेकिन सन् 1868 के अन्त में दोनों का ही तवादला वम्बई के एलफिंस्टन कॉलेज में हो गया। वहां रानडे अंग्रेजी के कार्यकारी प्रोफेसर और भण्डारकर संस्कृत के कार्यकारी प्रोफेसर के पद पर काम करने लगे। वह दोनों समाज में शामिल हो गए। उन्होंने उसमें पवित्रता और भक्ति का समावेश ही नही किया, वल्कि महान विद्वत्ता का भी किया। समाज की प्रार्थना-सभाओं में वे धार्मिक प्रवचन देते और सुनते थे। तभी उन्होंने महसूस किया कि उसके सदस्यों के विचारों और विश्वासों का स्पष्ट वर्णन भी आवश्यक है। रानडे ने यह काम अपने हाथ में लिया और 'ए थीस्ट्स कन्फेशन ऑफ फेथ' (धार्मिक निष्ठा के प्रति एक आस्तिक का अपराध-स्वीकरण) शीर्षक से एक लम्वा लेख लिखा जो 'दी हिन्दू रिफार्मर' नामक पत्र में छपा। भण्डारकर ने भी एक विस्तृत लेख 'दी नॉलेज ऑफ गॉड' (ईश्वर का ज्ञान) शीर्षक से लिखा।

'ए थीस्ट्स कन्फेशन ऑफ फेथ' का सामान्य दृष्टिकोण राजा राममोहन राय से भिन्न नही है। राजा राममोहन राय ने सवसे पहले फारसी में एक धार्मिक पुस्तक लिखी। उसमें उन्होंने मूर्ति-पूजा तथा सभी धर्मो के अन्धविश्वासों का विरोध किया और एक विश्वव्यापक धर्म की नीव रखने की कोशिश की, जिसमें एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। 1820 में उन्होंने एक और किताव छपवाई, जिसका शीर्षक था 'दी प्रिसेप्ट्स ऑफ जीसस' (जीसस की शिक्षाएं)। उसमें जीसस की नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षाओं का तो वर्णन था, लेकिन चमत्कारों का वर्णन नही था।

उन्होंने कुछ उपनिषदों का अनुवाद किया, उनका प्राक्कथन लिखा और उन्हें छपवाया। इस प्रकार उन्होंने एकेश्वरवाद की सर्वोत्कृष्टता तथा धार्मिक अनुष्ठानों और मूर्तिपूजा की व्यर्थता सिद्ध की। उन्होंने देखा कि सभी धर्मों मे एकेश्वरवाद के तत्व को विभिन्न प्रकार के धार्मिक कृत्यों, दन्तकथाओं, प्रमाणों, आचार संहिताओं और पूजा विधियों से चारों तरफ से घेर दिया गया है जो एकेश्वरवाद के सिद्धान्त के विपरीत है। उन्होंने देखा कि हिन्दू धर्म की सभी पुस्तकों में से केवल वेदान्त की पुस्तकें ही ऐसी हैं, जिसमें अत्यन्त महान और मौलिक सत्य का दर्शन होता है। वेदान्त की पुस्तकें तीन प्रकार की हैं—ब्रह्म सूत्र, उपनिषदें और गीता।

रानडे के सन् 1872 में लिखे गए लेख 'ए थीस्ट्स कनफेशन ऑफ फेथ' में भी इसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया गया है। 'संसार के सभी भागों में उभरते हुए अनेक अस्तिक संगठनों' की सहायता के लिए ही यह पुस्तक लेख लिखा गया था। उसमें अन्धविश्वासों, मूर्तिपूजा और पौराणिक कल्पित कथाओं की निन्दा की गई है। आस्तिकता के अनेक धार्मिक प्रश्नों का इस में सर्वेक्षण किया गया है। सभी धर्मों के शुद्ध ईश्वरवाद को, इस लेख में, 39 प्रश्नों के उत्तर के रूप में खूब अच्छी तरह समझाया गया है और बतलाया गया है कि शुद्ध ईश्वरवाद का क्या स्थान है। मानव स्वभाव में धार्मिक या आध्यात्मिक तत्व हैं, जिसके दो पक्ष हैं—एक तो बौद्धिक और काल्पनिक और दूसरा व्यवहारिक। काल्पनिक या बौद्धिक तत्व से ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और व्यावहारिक तत्व से मानव के प्रति। ईश्वर-प्रेम और मानव-प्रेम को अलग-अलग नही किया जा सकता क्योंकि वे एक ही तत्व के दो पक्ष हैं और वह तत्व है, धार्मिक चेतना। ईश्वर परमात्मा के रूप में विद्यमान है।

वह सभी कारणों का कारण है और देशकालातीत है। वह विश्व नियामक है और बल, बुद्धि, उत्तमता, प्रेम, न्याय और शुद्धता में सर्वश्रेष्ठ है। वह परमपिता सभी मानव आत्माओं का नैतिक नियामक है। मनुष्य की आत्मा अमर है और वह मृत्यु के बाद भी जीवित रहती है। परमेश्वर की इच्छा अपनी दैवी शक्ति द्वारा निर्जीव और अचेतन वस्तुओं तथा जीवित और चेतन प्राणियों को नियंत्रित और संचालित करती है। श्रद्धा, भक्ति, प्रार्थना, ईश्वर की दैवी शक्ति के प्रति समर्पण, मानव प्रेम, ईश्वर प्रेम तथा सदाचार और निष्ठा के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य की आत्मा को शरीर छोड़ने के बाद तथा शरीर में रहते हुए भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ये ही कुछ मुख्य विचार हैं जो बड़ी स्पष्टता और दृढ़ता से 'ए थीस्ट्स कनफेशन ऑफ फेथ' में व्यक्त किए गए हैं। उन्होंने अपने लेख के प्राक्कथन में लिखा है कि आमतौर पर धर्म के मामलों में पूर्ण निश्चितता नहीं होती, लेकिन कभी-कभी यह निश्चितता इतनी पक्की और उच्च स्तर की होती है कि हमें उसी के आधार पर काम करना पड़ता है। ऐसा धर्म तर्कसंगत होता है, अतर्कसंगत नहीं। रानडे ने अपने इस लेख में तर्क और विश्वास में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस लेख में हम यह भी पाते हैं कि जिन धर्मों का ज्ञान भारतवासियों को हो गया था, उन सब के साथ सामंजस्य स्थापित किया गया है।

सन् 1867 से जबसे रानडे ने प्रार्थना समाज में भाग लेना आरंभ किया, उनके मन और मस्तिष्क में ये ही विचार घर कर गए थे। यद्यपि आरंभ से ही उनकी प्रवृत्ति धार्मिक रही थी, लेकिन इससे पहले कभी भी उन्होंने अपने धार्मिक विचार प्रकट नहीं किए थे और न आध्यात्मिक सत्य की ओर कोई रुचि ही दिखाई

थी । समाज में शामिल होने से पहले कभी उन्होंने पूजा-पाठ में न तो नए तरीके से और न पुराने से ही, समय लगाया था। प्रार्थना समाज ने उनके विचारों को नई दिशा दी और उनके व्यक्तित्व को नया आयाम दिया । भण्डारकर के साथ-साथ अब वह भी प्रार्थना समाज के आचार्य बन गए। रानडे समाज की साप्ताहिक सभाओं में जाते थे । अब उन्होंने आध्यात्मिक समस्याओं को हल करने की सोची । ईश्वर का एक सर्वोच्च शक्ति, ज्ञान, दयालुता, प्रेम, न्याय और पवित्रता के रूप में निरंतर ध्यान करने से वह भगवान के सच्चे भक्त बन गए और उनके बनाए हुए प्राणियों से उन्हे पूर्ण लगाव हो गया। जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ती गई और उनके अनुभव और ध्यान में वृद्धि होती गई, वैसे-वैसे आध्यात्मिकता भी बढ़ती गई ।

विपत्तियां धार्मिक विश्वासों को जड़ से हिला देती हैं । 'ए थीस्ट्स कनफेशन ऑफ फेथ' लिखने के थोड़े दिन बाद ही उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई। उनका विश्वास इस महान शोक की कसौटी पर परखा गया । उनकी पत्नी 1862 में रानाडे के साथ रहने के लिए बम्बई आई थीं । 9 वर्षों तक वह निरन्तर उनके साथ रही। जब उन्हें विद्यालयी सम्मान मिल रहे थे और जब वह समाज सुधार की लडाई लड़ रहे थे, तब उन्होंने निरन्तर उनका साथ दिया।

सन् 1871 में जब रानडे पूना आए तब से उनकी पत्नी को बुखार रहने लगा था । पहले तो ख्याल हुआ कि हवा-पानी बदलने के कारण बुखार आ गया होगा । परन्तु जब बुखार न उतरा तो चिन्ता पैदा हो गई । बाद में इसी बुखार ने तपेदिक का रूप धारण कर लिया । हर प्रकार का इलाज किया गया पर कोई फायदा नहीं हुआ । अपनी प्रिय पत्नी की इस क्षयकारी

बीमारी के कारण रानडे द्रवित हो जाते थे। न्यायालय में सारे दिन काम करके जब वह घर वापिस आते तो अपनी पत्नी के पलंग के पास बैठ जाते और दिन-रात उनकी तीमारदारी करते तथा घटे-घंटे पर उन्हें दवा पिलाते। लेकिन किसी चीज से भी उन्हें फायदा नही हुआ और अक्तूबर, 1873 में उनकी मृत्यु हो गई। पत्नी की मृत्यु के बाद साल भर तो रानडे की आंखें उनकी याद में भर-भर आती थीं। कोई भी रात ऐसी नहीं बीतती थी जब वह आंसू न बहा लेते हों। रात का खाना खाने के बाद वह तुकाराम के अभंग सुना करते थे और यदि कभी कोई अभंग मर्मस्पर्शी या दुखपूर्ण होता तो वह उसे बार-बार सुनाने को कहते और अन्त में ऐसा होता कि उनका हृदय अत्यन्त दुखी हो जाता। वर्षों के बाद उनके एक मित्र के ऊपर भी ऐसा ही दुख आ पड़ा। उन्होंने बड़े हृदयस्पर्शी शब्दों में मित्र को पत्र लिख कर अपने भाव प्रकट किए। उन्होंने लिखा, "मेरी जो हानि हुई है वह भी इतनी दुखद है। कभी-कभी तो ये दुखद घटनाएं मनुष्य को इतनी उलझन में डाल देती हैं कि उसकी आत्मा विद्रोह करने पर उतारू हो जाती है। आपको तो अपने सदाचार और निष्ठा पर इतना अटूट विश्वास है कि इस धक्के से आपको विचलित नही होना चाहिए। लेकिन मित्रों को इस दिशा में कोई सलाह नहीं देनी चाहिए क्योंकि ऐसी सान्त्वनाएं तभी अच्छी लग सकती हैं, जब ऐसी क्षति से दुखी हृदय को इस बात का अहसास हो जाय कि यह संसार केवल सुन्दर गुलाबों का ही बगीचा नहीं है, इसमें कांटे भी हैं। जहां सुख है, वही उसके साथ-साथ महान दुख भी हैं, भोगने के लिए।"

अध्याय 6

पुणे में पारिवारिक जीवन

(1873–1877)

गोविन्द राव रानडे ने जिस आशा से अपने बेटे को अंग्रेजी स्कूल में पढ़ाया और फिर उच्च शिक्षा के लिए बम्बई भेजा, वह अब अच्छी तरह पूरी हो गई थी। उन्होंने अपनी पत्नी की इस आशंका को निर्मूल सिद्ध कर दिया कि अंग्रेजी स्कूल में पढ़कर बेटा ईसाई हो जाएगा। लेकिन उस शिक्षा का जो असर पड़ा उसकी उन्होंने कभी कल्पना भी नही की थी। बम्बई में नौजवान रानडे की धार्मिक और सामाजिक मामलों में दृढ धारणाएं बन गई थी, जो उस समय की हिन्दू संस्कृति से बिलकुल भिन्न थी। बूढ़े पिता को अपने पुत्र की सफलता पर अत्यन्त प्रसन्नता और गर्व था लेकिन उसके सुधारवादी विचारों और ढंगों से वह बहुत दुखी थे। दूसरी ओर बेटे को जो सदा ही अत्यन्त आज्ञाकारी और स्नेहशील रहा, अपने पिता की इच्छाओं और अपने अन्तःकरण की पुकार में से एक को चुनना था। इसलिए उसे भी बड़ी बेचैनी थी। वह समझ नही पा रहा था कि क्या करे।

विधवा विवाह का समर्थन करने के कारण रानडे का जो सामाजिक बहिष्कार हुआ था उसका वर्णन उन्होंने अपने एक अंग्रेज मित्र को लिखे गए पत्र मे इस प्रकार किया—"सन् 1871 में जब मैं कुछ सरकारी काम से पूना गया तब मेरे बूढ़े पिता मेरे पास आकर ठहरे। मैंने उनके साथ खाना नही खाया क्योंकि अगर मैं उनके साथ खाना खाता तो उन्हें भी परेशानी का सामना करना पड़ता। इसलिए मुझे

उनसे दूर बैठकर खाना खाना पड़ा।" इस अलग खाने के पीछे वह रुढ़िवाद तो था ही, साथ ही विधवा विवाह के विरुद्ध पिताजी का दृढ़ अस्वीकरण भी था। लेकिन उन्हें पुत्र से बहुत प्रेम और लगाव था, इसीलिए उन्होंने उसका बहिष्कार नही किया। यह ऐसी परिस्थिति थी जो दोनों के लिए कठिन परीक्षा की घड़ी थी।

उनका भावनात्मक संघर्ष चरम सीमा पर तब पहुंचा, जब पुत्र-वधू की मृत्यु के केवल दो सप्ताह बाद ही पिता ने अपने पुत्र से फिर से दूसरा विवाह कर लेने का आग्रह किया। साथ ही यह शर्त भी रखी कि विवाह किसी विधवा से नही होगा। वृद्ध पिता की दृढ़ धारणाएं थी और समाज सुधार के नए विचारो से वह बिलकुल सहमत नही थे। उनका कहना था कि जिन परिवारों में विधवा विवाह होते हैं, उनकी सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जाती है। अपने बेटे का शोक-समाचार सुनते ही वह कोल्हापुर से पुणे पहुंच गए। और इस डर से कि रानडे के मित्रों का उनके ऊपर बुरा प्रभाव पड़ेगा, उनके पिता ने निःसंकोच हो कर उनके मित्रों के पत्र भी उन्हें नहीं दिए। रानडे की पत्नी ने अपने संस्मरणों में लिखा है, "जैसे ही डाक आती वह जल्दी से स्वयं ही ले लेते। बम्बई के पत्र और तार अपने पास रखकर बाकी मेरे पति (रानडे) के पास ऊपर भिजवा देते। परिवार में कोई भी ऐसा नही था जो उनके विरुद्ध एक शब्द भी कहने का साहस करता।" अब वृद्ध पिता ने अपने बेटे के लिए बड़ी तेजी से वधू ढूंढ़नी आरंभ कर दिया। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि बेटे को किसी भी प्रकार उसके बम्बई के मित्रों से प्रभावित नहीं होने देंगे और तुरन्त ही उसका दूसरा विवाह कर देंगे। पुणे में उनकी भेंट माधवराव अन्नासाहब कुलेकर से हुई जो अभिजात वर्ग के थे, रईस थे, और जो अपनी पुत्री के लिए वर की तलाश में थे। उनके अनुरोध पर रानडे ने अपने पुरोहित बालमभटजी बाटवे को सतारा जिले में उक्त महोदय के घर लड़की

देखने भेजा। लड़की पसन्द आ गई और वालमभटजी, अन्नासाहव और उनकी वेटी पुणे के लिए तांगे से चल पड़े। इसी बीच पुणे में विवाह के सम्बन्ध में वाप-वेटे के बीच जोरदार झड़प चल रही थी। रानडे का कहना था, "मै विवाह करना नही चाहता। मैं बत्तीस वर्ष का हो गया हू। अब कोई बच्चा नही हूं। मैं एकान्त जीवन व्यतीत कर सकता हूं और मेरी एक बहिन दुर्गा भी तो है जो मुझसे छोटी है। वह बेचारी तो इक्कीस वर्ष की आयु में ही विधवा हो गई थी। आप उसे भी उतना ही प्यार करते हैं जितना मुझे। लेकिन फिर भी आपको मेरी तो चिन्ता है, पर उसकी बिलकुल नहीं है। आप मुझसे क्यों बार-बार विवाह करने को कहते है? अगर आप सोचते हैं कि उसे संयम का जीवन व्यतीत करना चाहिए तो यही आप मेरे लिए क्यों नही सोचते? यदि आपको यह डर है कि कही मै किसी विधवा से शादी न कर लूं, तो मै प्रतिज्ञा करता हूं कि ऐसा कभी नहीं करूंगा। इस तरफ मे आप बेफिक्र रहिए।" लेकिन यह सब वादविवाद और तर्क बिलकुल ही बेकार सिद्ध हुए। इससे हुआ यह कि उनके पिता और भी अधिक क्रोधित हो उठे। इसके बाद रानडे ने कहा, "ठीक है। चाहे आप मेरी बात मानने को राजी हों या न हो, पर मुझे तो आपकी आज्ञा का पालन करना ही है।" इसके बाद रानडे ने केवल छः महीने का समय मांगा, जिससे वह एक बार इंग्लैड हो आए। लेकिन वृद्ध पिता इस पर भी राजी नही हुए और अन्त में रानाडे को पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देना पड़ा। दो दिन बाद ही अपनी बेटी को लेकर माधवराव सतारा से पुणे जा पहुंचे। गोविन्दराव ने लड़की को देखकर पसन्द कर लिया और फिर माधवराव से कहा कि आप भी लडके को देख लीजिए। शाम को अन्नासाहव माधवराव ने रानडे के पास जाकर शादी का प्रस्ताव रखा। रानडे ने कहा कि यह शादी लड़की के हित में नही होगी। यह उसके उपयुक्त नही

है। लेकिन उनकी वात नही मानी गई। तव उन्होंने कहा कि शादी छह महीने के लिए रोक दी जाए। माधवराव ने कोई उत्तर नही दिया और इसका निर्णय गोविन्दराव पर छोड़ दिया गया।

गोविन्दराव ने रानडे से जो भी कहा उससे उनके दृढ़ निश्चय का पता चलता है। रानडे को उनके आगे झुकना ही पड़ा। गोविन्दराव ने कहा, "अगर तुम्हें आजाद छोड़ दिया गया तो स्वाभाविक है कि तुम विधवा-विवाह जैसे नए विचारों के फेर में फंस जाओगे। तुम जो चाहो वह करो। पर मैं वताए देता हूं कि मैंने क्या निश्चय किया है। मैंने प्रतिज्ञा की है कि मै लड़की को वापिस नहीं जाने दूंगा। यदि इस समय तुम शादी नही करोगे तो यह अन्नासाहव के परिवार के लिए वड़ी अपमानजनक वात होगी और इससे मेरी भी कोई कम वेइज्जती नहीं होगी। लेकिन तुम्हें अगर अपने मन की ही करनी है तो मैं भी कहे देता हूं कि मै सदा के लिए कोल्हापुर चला जाऊंगा और हमारे सम्वन्ध हमेशा के लिए टूट जाएंगे।" रानडे ने आत्मसमर्पण कर दिया। रानडे की पत्नी की मृत्यु को एक महीना भी नही हुआ था कि एक ग्यारह वर्ष की कन्या से 32 वर्ष के रानडे का विवाह पूरी सनातन विधि से हो गया। दस वर्षो से जिस आदर्श के लिए रानडे लड़ रहे थे, जिसके लिए उन्होंने इतनी कठिनाइयों का सामना किया था, पांडित्यपूर्ण और भावपूर्ण भाषणों द्वारा जिसका उपदेश दिया था और जिसके लिए उन्होंने अपने चारों ओर इतने पक्के और कट्टर अनुयायी जमा कर लिए थे, उस आदर्श के यह विवाह सर्वथा प्रतिकूल था। जिन वुराइयों की वह निन्दा करते थे, वह सारी वुराइयां इस शादी में थी—लड़की वहुत छोटी थी, पति-पत्नी की आयु में वहुत अधिक अन्तर था, और वड़ी उम्र के रानडे ने एक विधवा से शादी न कर छोटी कन्या से की थी।

रानडे ने जो कुछ किया उससे पिता तो सन्तुष्ट हो गए लेकिन कुटुम्ब के बाहर जो प्रतिक्रिया हुई, वह बहुत अप्रिय थी। समाज सुधार के उनके साथी आगबबूला हो गए और विरोधियों ने खूब खिल्ली उड़ाई। जीवनी लेखकों ने उनके इस काम को विशेष रूप से यह कह कर उचित ठहराया है कि माता-पिता की आज्ञा पालन सबसे बड़ा गुण है। उनकी पत्नी ने कहा है—"उनके लिए दो सिद्धांत परम मान्य थे—एक तो यह कि पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए और दूसरे यह कि कुटुम्ब की शान्ति और कल्याण में कभी विक्षेप नही करना चाहिए। मैं सोचती हूं कि यदि उनके जीवन में आत्मत्याग और विशाल हृदय का कोई पहलू है तो वह यही है, जो उनके अन्य गुणों से कही उच्च और उत्कृष्ट है।" *यदि सभी सुधारक इन सिद्धांतों को ही सर्वश्रेष्ठ मानने लगें तो* वे समाजसुधार कैसे कर सकेंगे? रानडे से अनेकों बार कहा जाता था कि तुम्हारे अन्दर बिलकुल हिम्मत नही है। पर वह कभी इस बात का कोई उत्तर नहीं देते। यह सब कुछ तो हुआ *लेकिन वह अपने विश्वास और निष्ठा से कभी नहीं डिगे।* उन दिनों समाजसुधार के प्रति अपने विश्वास की घोषणा करना भी बहुत हिम्मत का काम समझा जाता था।

एक बात यहां ध्यान देने की है। रानडे अपनी धारणाओं और विचारों के कारण स्वयं समाज से बहिष्कृत होना स्वीकार कर सकते थे, लेकिन अपने पिता से अलग होना सहन नही कर सकते थे। अपने पिता के कारण ही उन्हें बम्बई यूनिवर्सिटी की पढ़ाई करने का अवसर मिला था और इसी शिक्षा के कारण वह अपनी वर्तमान स्थिति में पहुंच सके थे। उनकी विद्वता, चरित्र और आकांक्षाओं में भी इसी शिक्षा का हाथ था। उनके पिता ने अपनी इच्छानुसार विचार करने और उन्हें व्यक्त करने की स्वतन्त्रता

द दी थी। उस समय यह भी एक बड़ी और प्रशंसा योग्य बात थी।

लेकिन रानडे को उनके पिता ने कार्य करने की स्वतन्त्रता नही दी थी। उनकी पत्नी बतलाती हैं कि उनकी शादी के दो वर्ष बाद रानडे के एक मित्र ने एक विधवा से विवाह किया। उन्होंने नव-दम्पत्ति को रात के खाने के लिए बुलाया। उस समय रानडे के छोटे भाई बाबा का जनेऊ-संस्कार करवाने के लिए उनके पिता कुटुम्ब के सभी लोगों के साथ पूना आए हुए थे। विष्णुशास्त्री पंडित, जो विधवा-विवाह के पक्षपाती थे और निरन्तर उसके लिए संघर्ष कर रहे थे और जिन्होंने स्वयं भी एक विधवा से विवाह किया था, इस समय बम्बई से महाबलेश्वर जा रहे थे। सुबह खाना खाते समय रानडे ने अपनी बहिन से कहा कि मैंने आज रात को पंडित तथा अन्य कुछ मित्रों को खाना खाने के लिए बुलाया है। कुछ देर बाद उनके पिता को यह बात मालूम हुई। दोपहार बाद वह घर से निकल गए और तब तक वापिस नहीं आए जब तक मेहमान वापिस नही चले गए। वापिस आकर उन्होंने बाल्मभटजी को बुलाया और कहा, "कल हम कोल्हापुर चले जाएंगे। सब गाड़ियां तैयार कर लो, जिससे दिन निकलने से पहले ही हम यहां से चल दें।" रानडे की बहिन ने इस निर्णय की बात उन्हें बतला दी। सारी रात रानडे को बड़ी बेचैनी रही, मन बड़ा अशान्त रहा। बड़े सबेरे वह उठे और बरामदे में गए जहां उनके पिता बैठे थे और एक खंभे के सहारे खड़े हो गए। पिताजी ने उन्हें देखा, लेकिन जानबूझ कर ध्यान नहीं दिया। उन्हें इस तरह खड़े-खड़े पूरा एक घंटा बीत गया, लेकिन दोनों में से किसी ने भी एक शब्द मुंह से नही निकाला। उसके बाद रानडे क्षमा मांगते हुए बोले, "मुझे नहीं मालूम था कि रात की बात से आपको इतना बुरा लगेगा, नहीं तो

मैं उन मित्रों को खाना खाने के लिए कभी न बुलाता।" इतने में गाड़ी तैयार होकर आ गई। पिताजी का क्रोध शान्त नहीं हुआ था। रानडे ने तब बालमभटजी से कहा, "तो अब यह निश्चय कर लिया है। सब लोग मुझे यहां अकेले छोड कर चले जाएंगे। मुझे तो पहले ही मालूम था कि जिस दिन से मेरी मां मरी उसी दिन से मैं अनाथ हो गया।" यह कह कर वह तेजी से ऊपर चले गए और वहां से कहला दिया कि यदि पिताजी कोल्हापुर जाने का विचार स्थगित नही करेंगे तो मैं अपनी इस नौकरी से त्यागपत्र दे दूंगा। मुझे उससे कोई लगाव नही है। यह सुनकर पिताजी का गुस्सा ठंडा पड़ गया।

विष्णु शास्त्री पंडित, जिन्हें खाने पर बुलाने पर घर में इतना बखेड़ा उठ खड़ा हुआ था, रानडे के बड़े प्रिय और अभिन्न मित्र थे। उन्होंने ही रानडे को समाज सुधार के काम में लगाया था, उन्ही के नेतृत्व मे उन्होने समाज सुधार के लिए संघर्ष किए। विष्णु शास्त्री बीमार हो गए थे और हवा-पानी बदलने के लिए महाबलेश्वर जा रहे थे। रास्ते में पुणे रुके थे। लेकिन उनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया और सन् 1876 में 50 वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु पर एक सार्वजनिक शोक सभा में बोलते हुए रानडे ने कहा कि वेदों के अध्ययन से उनके अन्दर अनुशासन आया और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से देशभक्ति का संचार हुआ।

गोविन्दराव को ढाई सौ रुपये तनखाह मिलती थी और उनकी आर्थिक स्थिति काफी अच्छी थी। लेकिन अपने सम्बन्धियों और मित्रों के प्रति वह बड़े दयालु थे और उनके लिए फिजूलखर्ची भी करते थे। परिणाम यह होता था कि वह अपनी जेब से अधिक खर्च कर डालते थे। इसलिए उनके ऊपर कर्जा हो गया। रानडे को इस समय आठ सौ रुपये महीना तनख्वाह मिलती थी और वही

अपने पिता के कर्जे चुकाया करते थे। जब गोविन्दराव ने अवकाश प्राप्त किया तो उनके खर्चे के लिए पेंशन कम पड़ने लगी। रानडे हर महीने डेढ़ सौ रुपये उनके खर्चे के लिए भेज दिया करते थे। 1875 में जब जनेऊ समारोह समाप्त हो गया तो गोविन्दराव के कोल्हापुर वापिस जाने से पहले उन्होंने पुणे में एक घर खरीदा। उनके पिताजी ने उसके विक्रय पत्र का मसौदा बना कर ऊपर कमरे में अपने बेटे को दिखाने के लिए भेजा। बेटे ने उस पर लिखा कि यह तो ठीक है। लेकिन मैं चाहता हूं कि उसमें मेरे नाम के स्थान पर आपका नाम लिखा जाए। पिता ने इसके लिए बहुत मना किया। इस पर बहुत बहस भी हुई लेकिन अन्त में रानडे की बात मान ली गई। वह घर आज भी मौजूद है। चाहे उसमें बहुत से परिवर्तन हो गए हैं। दूसरी मंजिल की उसकी खिड़कियां फूले मार्किट की ओर खुलती हैं।

कुछ महीनों बाद गोविन्दराव कोल्हापुर वापिस आ गए। वहां उनका मधुमेही फोड़ा हो गया। सिविल सर्जन का इलाज हुआ, लेकिन उससे कोई फायदा नहीं हुआ। रानडे ने अपने बीमार पिता की सेवा करने के लिए एक महीने की छुट्टी ले ली। लेकिन इतने समय में उनकी दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। फिर उन्होंने एक महीने की छुट्टी और बढ़ाई। लेकिन उनके पिता की हालत बिगड़ती ही गई। अब बगैर नौकरी पर गए हुए, रानडे को, और छुट्टी नहीं मिल सकती थी। लेकिन उनके पिता यही चाहते थे कि रानडे उनकी बीमारी की हालत में उनके पास ही रहें। उन दिनों तांगे के द्वारा पुणे जाना पड़ता था और रास्ता तय करने में छत्तीस घंटे लगते थे। उनकी अनुपस्थिति में कुछ भी हो सकता था। डॉक्टर ने ढांढ़स बंधाया कि चिन्ता की कोई बात नहीं है। तब उन्होंने रानडे से रुकने के लिए कहना बन्द कर दिया। जब

रानडे जाने ही वाले थे, तब उन्होंने उन्हें अपने पास बुलाया और आंखों में आंसू भर कर उनका हाथ अपने हाथ में लेकर कहने लगे, "माधवराव, डॉक्टर मुझे दिलासा दे रहे हैं, लेकिन मुझे कुछ विश्वास नहीं होता। अगर तुम जल्दी नहीं आओगे तो हो सकता है हम मिल न पाएं। बस मैं यही कहना चाहता था। मुझे और कोई चिन्ता नहीं है। लेकिन तुम तो यह समझते ही होगे कि जो भार, जो उत्तरदायित्व मैं जीवन भर निभाता रहा वह अब तुम्हारे ऊपर आ पड़ेगा।" रानडे ने उत्तर दिया, "आप बिल्कुल चिन्ता मत कीजिए। मैं अपने कर्तव्य से कभी पीछे नहीं हटूंगा।" बेटे को विदा करते समय पिता सुबक कर रो पड़े। छुट्टी मंजूर करवा कर कोल्हापुर के लिए रवाना होने से पहले ही रानडे को तार मिल गया कि उनके पिता की मृत्यु हो गई है। दो सप्ताह बाद उन्होंने कोल्हापुर को चिट्ठी लिखी कि वहां का घर बन्द कर दिया जाए। उनके पिता पर लगभग दो हजार रुपये का कर्जा था। रानडे ने दो हजार रुपये का ड्राफ्ट यह कर्जा चुकाने के लिए भेजा। इसके बाद कुटुम्ब के सभी सदस्य और आश्रित लोग, पुणे आ गए। कुटुम्ब में रानडे की सौतेली मां और उसकी मां, उनकी विधवा बहिन, एक चाची और दो सौतेले भाई आबा और बाबा थे। उनकी पत्नी कहती है, "जब से मेरी सास पूना आई है, खाना खाने से पहले घंटे भर तक उनसे बातचीत करने का मेरे पति ने नियम बना लिया है। उनके इस महान शोक के समय वह उनके पास बैठते हैं और उन्हें सान्त्वना देते हैं तब खाना खाने जाते हैं।"

यद्यपि अपने विवाह के विषय में रानडे ने आत्मसमर्पण कर दिया और फिर बाद में उनके पिता की भी मृत्यु हो गई, फिर भी उनके आदर्शों और व्यक्तिगत सम्बन्धों के बीच संघर्ष

चलता ही रहा। विधवा-विवाह के आदर्श के अनुरूप तो वह आचरण नही कर सके। लेकिन स्त्री शिक्षा जैसे सिद्धान्तों को अवश्य आगे वढ़ा सके। उन्होंने अपनी पत्नी को शिक्षित करने का निश्चय किया। पहले ही दिन जव वह अपनी पत्नी से मिले, उन्हें मालूम हो गया था कि वह पढ़ी-लिखी नही है। उन्होंने एक स्लेट और पेंसिल मंगाई और उन्हें मराठी पढ़ानी शुरू कर दी। यदि उनके पिता जीवित होते और चाहे वह पुणे मे ही होते, फिर भी वह पढ़ाने-लिखाने पर प्रतिवन्ध न लगाते, क्योंकि उन्होंने तो स्वयं ही अपनी पत्नी और पुत्री को पढ़ना-लिखना और हिसाव-किताव सिखाया था। लेकिन पिता के मरने के वाद जव कुटुम्व के सव लोग पुणे आ गए, तो घर की स्त्रियों को रानडे का अपनी पत्नी को पढ़ाना अच्छा नहीं लगता था, उनके अन्दर घृणा और क्रोध की भावना पैदा हो गई थी। शायद उन्हें इस वात का अहसास था कि रानडे एक समाज-सुधारक होते हुए अपनी पत्नी को केवल उतना ही नहीं पढ़ायेंगे जितना स्वयं उन्हें पढ़ाया गया था। उनकी निगाहों में समाज सुधार घोर अपमान की वात थी। उन्होंने उसकी पढ़ाई-लिखाई, विशेष रूप से अंग्रेजी शिक्षा का विरोध किया। घर में आठ-दस स्त्रियां थी। कोई पास की रिश्तेदार थी, कोई दूर की। लेकिन थी सभी वड़ी। रानडे की पत्नी रमावाई 14 वर्ष की भोली-भाली लड़की थीं, अपने पति के प्रति निष्ठावान और भावुक स्वभाव की। उसे अपने पति की बुद्धिमानी पर अत्यन्त विश्वास था। वह शाम को अपने पति से ऊपर अपने कमरे में पढ़ती और फिर वाद में अभ्यास करती। लेकिन सारा दिन उसे घर की स्त्रियों के साथ ही विताना पड़ता था। उनकी उपस्थिति में वह किसी प्रकार भी पढ़ने-लिखने का अभ्यास नहीं

कर सकती थी। एक बार झाड़ू लगाते समय उसे अखबार के कागज का एक टुकड़ा पड़ा मिला। उसने नई-नई अंग्रेजी सीखी थी। उस टुकड़े को उठा कर वह अक्षर पहचानने की कोशिश करने लगी। घर की स्त्रियों ने जब यह देखा तो वह उसके चारों ओर जमा हो गई और मजाक उड़ाने लगी तथा ताने मारने लगी। बोली, "तुम्हारा दफ्तर तो ऊपर है, तुम वहीं पढ़ो-लिखो और जो चाहे सो करो, लेकिन नीचे आकर तुम हमारी बेइज्जती मत करो। हमारी पहली भाभी थी वह भी पढ़ना-लिखना जानती थी। पर वह ऊपर ही पढ़ती थी। तुम्हारी तरह नीचे आकर हमारे सामने वह कभी नही पढ़ती-लिखती थी।" घर की स्त्रियां इतने ताने मारती थीं कि सारे दिन सुनते-सुनते रमाबाई परेशान हो जाती थी और कई बार तो वह इतने असहनीय हो जाते थे कि वह चाहती थी कि खूब रोए। विवाह के समय चलते वक्त पिता ने शिक्षा दी थी कि घर के लोगों की शिकायतें अपने पति से मत करना। इसलिए रमाबाई पति से कुछ नहीं कहती थी। अपने पति के पास जब वह जाती तो बहुत प्रसन्न दिखने की कोशिश करती। लेकिन रानडे ने किसी तरह सब कुछ देख और समझ लिया। वे स्त्रियां रानडे को भी बुरा-भला कहने से नहीं चूकती थीं। उनकी भी भर्त्सना करती थीं। इससे उन्हें भी बहुत दुःख होता था। लेकिन उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि तुम चुपचाप रहना और उन लोगों के कहने का, तानों का बिलकुल उत्तर मत देना। वह स्वयं भी सबका कहना-सुनना चुपचाप सहते रहते थे। और अपने कमरे में अपनी पत्नी को पढ़ाते-लिखाते रहते थे, और इन स्त्रियों से भी अपने सम्बन्ध अच्छे बना कर रखते रहे। जो भी कुछ मानसिक तनाव घर के वातावरण के कारण था वह अपने और अपनी पत्नी तक ही उन्होंने सीमित रखा। परन्तु यह तनाव दिन पर

दिन बढ़ता ही गया। लेकिन जब सन् 1877 में उनका तबादला नासिक हो गया, तभी इस तनाव से उन्हें छुट्टी मिली। उन्होंने घर की सभी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को पुणे में छोड़ दिया। और केवल अपनी पत्नी और अपने दो छोटे सौतले भाइयों में से एक को अपने साथ नासिक ले गए, क्योंकि वह अपनी भाभी से सहानुभूति रखता था।

अध्याय 7

लोकमत की जागृति

(1871–1878)

सन् 1871 में पुणे में रानडे की नियुक्ति लोकहित में ही हुई। तीस वर्ष की छोटी आयु में उन्हें प्रथम श्रेणी के प्रथम वर्ग के अवर न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया और उन्हें आठ सौ रुपये महीने तनख्वाह मिलने लगी। यह उनके अधिकारी जीवन की असाधारण उपलब्धि थी। इस पद पर वह हर प्रकार के दीवानी (सिविल) मुकदमों पर न्याय कर सकते थे और दूसरी श्रेणी के न्यायाधीशों की डिक्री पर अपील सुन सकते थे। 1872 में दिसम्बर से कुछ दिन पहले उन्हें 'रावबहादुर' की उपाधि मिल गई। अपनी इस नियुक्ति और उपाधि के कारण जो गैर सरकारी सार्वजनिक सेवा उन्होंने की वह अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। पुणे में वह पहले 1871 से 1878 तक और बाद में 1881 से 1893 तक रहे। जिस समय रानडे पुणे पहुंचे तो उन्होंने देखा कि बम्बई के बाद पुणे ही ऐसा शहर है जहां बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास अधिक मात्रा में हो सकता है। किसी समय पुणे मराठा राज्य की राजधानी थी और राजनीति, फौज, कानून, विद्या और संस्कृति का केन्द्र था। यद्यपि अयोग्य, कायर, लम्पट और अन्धविश्वासी बाजीराव द्वितीय ने अपने राज्यकाल में नगर की छवि बिगाड़ दी थी, फिर भी महाराष्ट्र के लोगों को उससे मार्ग-दर्शन की आशा रहती थी। पेशवाओं के पराजित होने के बाद लोग बिलकुल हक्के-बक्के रह गए और निराश हो गए।

भारत के इस भाग को यदि नवजीवन की आशा का संदेश दे सकता था, तो वह पूणे ही दे सकता था।

पुणे आने से पहले रानडे ने सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक और धार्मिक प्रश्नों पर भाषण दिए थे, लेकिन धारणाएं केवल सामाजिक और धार्मिक विषयों पर ही बनाईं थीं। सुधार आन्दोलनों में उन्होंने इन्हीं दो क्षेत्रों में मार्गदर्शन किया था। पुणे में भी वह इन्हीं क्षेत्रों में काम करते रहे। और पुणे में वह प्रार्थना समाज में भी शामिल हो गए। यह समाज पुणे में सन् 1870 में उनके मित्र वामन आबाजी मोदक ने आरम्भ किया था और उसे सक्रिय रखने के लिए बहुत कोशिश करते रहे थे। पुणे आने के एक वर्ष बाद सन् 1872 में रानडे ने, 'ए थीस्ट्स कन्फेशन आफ फेथ' लिखा। अब वह राजनीतिक और आर्थिक मामलों पर भी अपने विचार सुदृढ़ करने लगे थे। पुणे आने के बाद कुछ वर्षों तक तो वह इन्हीं दो विषयों पर साहित्यिक रचनाएँ भी लिखते रहे।

पुणे में 'सार्वजनिक सभा' नाम की एक संस्था भी थी। मूलतः तो सन् 1870 में इसे उन कुछ व्यक्तियों ने आरम्भ किया था जो समझते थे कि पार्वती मन्दिर की व्यवस्था ठीक से नहीं हो रही है। लेकिन वस्तुतः उसका लक्ष्य और उद्देश्य सभी सार्वजनिक मामलों पर ध्यान देना और सुलझाना था। रानडे ने सोचा कि आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में पुनरुत्थान के लिए इसे ही माध्यम बनाया जाए। उनकी इस योजना में सहायता करने के लिए उन्हें एक अत्यन्त उत्साही और जोशीला साथी मिला, जिसका नाम गणेश वासुदेव जोशी था, जिसे सब 'सार्वजनिक काका' (जगत काका) कहते थे। जोशी इस सभा के संस्थापकों में से था। उसका जन्म सन् 1828 में हुआ था और वह बचपन में ही अनाथ हो गया था।

उसे अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। उस पर गबन का भी झूठा आरोप लगाया गया और नौकरी से निकाल दिया गया। दोष मुक्त होने पर उसने दुबारा नौकरी नही की। उसने वकालात पढ़ी और प्रेक्टिस करने लगा। उसमें असाधारण बुद्धि थी। उसने कानून की सभी बारीकियों को और वकालत की कला को बहुत जल्दी समझ लिया। यद्यपि उसने यह काम देर से शुरू किया और अंग्रेजी तो उसे काफी बड़ी उम्र तक नही आई-फिर भी इस पेशे में उसने काफी उन्नति की। वह कभी बेकार नही बैठता था। वह निडर और उत्साही था तथा मानसिक और शरीरिक बल से ओतप्रोत था। विपत्ति में फंसे लोगों की, चाहे वे कोई भी हों और भी कही हों, सहायता करने को वह सदा तैयार रहता था। और सब जगह पहुंच जाता था। एक बार सूरत के एक राजनीतिक मुकदमे में उसने हस्तक्षेप करके कुछ लोगों को जेल जाने से बचा लिया। वह पहला व्यक्ति था जिसने भारत में 'स्वदेशी' के विचार का प्रचार किया और स्वयं उस पर अमल किया। सन् 1877 में खादी के कपड़े पहन कर वह दिल्ली के दरबार में गया।

पुणे आने पर रानडे काका जोशी से मिले और वे दोनों मित्र बन गए। शायद उन दोनों के बीच विचार विमर्श हुआ होगा। उसी के फलस्वरूप रानडे ने उस समय की आर्थिक समस्याओं पर ध्यान देना शुरू किया और काका जोशी ने देशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए एक व्यावसायिक कम्पनी चालू कर दी। काका जोशी ने व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन देने के लिए पूना व्यापारोत्तेजक मंडली नामक एक संस्था का भी संगठन किया। इस संस्था के तत्वावधान में भारत के विदेशी व्यापार के विषय में रानडे ने दो भाषण दिए। एक 1872 के दिसम्बर में और

दूसरा 1873 के फरवरी महीने में । उस समय विदेशी व्यापार का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। 1850 से 1860 के दशक में पानी के जहाजों में सुधार होने, सड़कों का विस्तार होने, भारत के आन्तरिक भागों में रेलों के पहुंच जाने तथा ब्रिटिश सरकार के अधिकार में देश के विशाल क्षेत्रों के आ जाने के कारण भारत के विदेशी व्यापार में बड़ी उन्नति हुई। अब आर्थिक रूप से भारत अलग नही रह गया था। रानडे के दोनों भाषण ब्रिटिश भारत से सम्बन्धित सांख्यिक आंकड़ों पर आधारित थे । दादा भाई नौरोजी के दो निबन्धों के अलावा आर्थिक विषय पर और कोई काम नहीं हुआ । पहले निबन्ध में जो सन् 1867 में लिखा गया । दादाभाई ने 'ड्रेन थ्योरी' (खींच सिद्धान्त) पर प्रकाश डाला और उसका प्रचार किया । इस 'ड्रेन थ्योरी' का मतलब था कि भारत का निर्यात आयात से अधिक था। दादाभाई ने लिखा था कि इस प्रकार भारत का अधिकतम धन खिंच कर इंग्लैण्ड चला जा रहा था और ऐसा इसलिए हो रहा था कि अंग्रेज इस देश पर राज्य कर रहे थे । ब्रिटिश सरकार ने भुगतान सन्तुलन में कुछ मदें बढ़ाई, जैसे गृह शुल्क, (इंग्लैण्ड में होने वाला भारत सरकार का खर्चा) अंग्रेज अफसरों और व्यापारियों द्वारा भारत से इंग्लैण्ड भेजा गया धन, भारत स्थित अंग्रेज़ी बैंकों, बीमा कम्पनियों और औद्योगिक संस्थानों का लाभ, तथा जहाजरानी कम्पनियों को मालभाड़े की अदायगी । भारत जो चीजें इंग्लैण्ड से आयात करता था, उनका मूल्य तो चुकाता ही था, इसके अतिरिक्त जो चीजें वह इंग्लैण्ड को निर्यात करता था उन पर ऊपर लिखे सभी खर्चे भी इंग्लैण्ड में अदा करता था। सन् 1870 में दादाभाई ने अपना दूसरा निबन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने बताया कि भारत में प्रति व्यक्ति आय केवल 20 रुपया है ।

सन् 1872 और 1873 में रानडे ने दो भाषण दिए, जिनमें उन्होंने भारत से धन के खींचे जाने का जिक्र किया । लेकिन उन्होंने कहा कि इसे रोकने का कोई उपाय नही है । उन्होंने भारत के विदेशी व्यापार की दो-तीन अन्य विशेषताओं को भी समझा, उनके कारणों पर विचार किया और उनके दुष्परिणामों को रोकने के उपाय भी बताए। पहली बात तो यह थी कि हर वर्ष भारत में आयात तो बढ़ता था लेकिन निर्यात घटता जा रहा था । रानडे के विचार से इसका कारण था भारतीय किसानों की गरीबी और बेवसी। गरीबी के कारण उन्हें अपनी पैदावार बहुत थोड़े मूल्य पर बेच देनी पड़ती थी। उनके दाम इतने कम होते थे कि विदेशी बाजारों में यहां की पैदावार की अत्यन्त मांग थी । इसलिए निर्यात बढ़ गया। दूसरे हम जो समान इंग्लैण्ड से मँगाते थे, वह अधिकतर मशीनों का बना होता था और सस्ता होता था। परिणाम यह हुआ कि यहां की दस्तकारी बुनाई, धातु उद्योग और नमक उद्योग को भारी धक्का लगा । अपने सर्वेक्षण के बाद उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि भारत मे भी मशीनों से ही काम लेना चाहिए ।यहां अब दस्तकारी या हाथ से काम करने कोई मूल्य नहीं रहा। उन्होंने कहा कि कुछ समय तक तो मशीन से बनी चीजों को भी सरकारी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि बिना उसके हम विदेशी व्यापार प्रतियोगिता में नही ठहर सकते । मशीनी उद्योगों में बहुत अधिक धन लगता है । रानडे ने भारतीय स्त्रियों से कहा कि वे गहनों का शौक छोड़ दें और गहनों में धन न लगा कर उद्योगों में लगाएं।

यह एक नई सूझ थी। इससे पहले सन् 1864 में रानडे ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर एक भाषण दिया था। तब उन्होंने कहा था कि भारत की गरीबी का एक कारण अत्यधिक आबादी है, जिससे

छुटकारा पाने के लिए संयुक्त परिवार और बाल-विवाह का अन्त कर देना आवश्यक है । यह पूर्णरूप से माल्थस का सिद्धान्त था । रानडे बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों का ही अनुसरण कर रहे थे । परन्तु सन् 1872 में उन्होंने कहा कि भारत में गरीबी से निजात पाने के लिए औद्योगीकरण अत्यन्त आवश्यक है । ये उनके अपने स्वतन्त्र विचार थे । चार वर्ष बाद दादाभाई नौरोजी ने भी यही कहा । लेकिन उनका उपाय भिन्न था । उन्होंने कहा कि जो धन हमें भारत में औद्योगीकरण के लिए आवश्यक है वह अंग्रेजों से ही प्राप्त करना चाहिए । ऐसा करने से धन की खींच रुक जाएगी और उसके बुरे प्रभावों से भी छुटकारा मिल जाएगा, जिसके लिए नैतिक रूप से वे लोग ही उत्तरदायी है । रानडे ने धन के लिए अपने देशवासियों से ही प्रार्थना की ।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के दौरान रानडे ने एक और काम अपने हाथ में ले लिया । सन् 1871 में भारत की वित्तीय व्यवस्था के विषय मे विचार करने के लिए एक संसदीय समिति कायम की गई । भारत सरकार ने समिति के सामने गवाही देने के लिए कुछ लोगों को भेजा । बम्बई एसोसिएशन ने जिसमें वहां के अग्रणी नागरिक थे नौरोजी फरदनजी, को प्रतिनियुक्त किया । पुणे की सार्वजनिक सभा से रानडे को भेजे जाने की सम्भावना थी, लेकिन बाद में यह विचार कार्यान्वित नहीं हो पाया । बहुत से सरकारी और गैर-सरकारी लोगों ने गवाही दी और भारत की कर व्यवस्था की अस्पष्टता पर पर्याप्त प्रकाश डाला । रानडे ने 'इन्दुप्रकाश' में लेखों की एक श्रृंखला शुरू की, जिसमें समय-समय पर गवाही का संक्षिप्त विवरण देते थे । इस समिति ने 4 वर्ष तक काम किया और 3500 पृष्ठों की चार पुस्तकों में उसकी कार्यवाही प्रकाशित हुई । उनकी सूक्ष्मता और स्पष्टता से संक्षिप्त करने का काम रानडे ने इतनी

सुयोग्यता से किया कि अनेक लोगों ने उन्हें प्रशस्तियां भेजीं, यहां तक कि लन्दन का अत्यन्त प्रभावशाली समाचारपत्र 'सैटरडेरिव्यू' भी उनकी प्रशंसा करने में पीछे नहीं रहा। सन् 1878 में रानडे के लेख, 'रेवेन्यू मैनुअल आफ दी इंडियन एम्पायर' शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए।

सार्वजनिक जीवन के लिए जितना भी महत्त्वपूर्ण और उपयोगी काम रानडे ने किया, वह सब 'सार्वजनिक सभा' के द्वारा ही किया। सभी में बड़े-बड़े प्रतिष्ठित और जिम्मेदार लोग थे। ईमानदार या जमींदार, साहूकार, व्यापारी, सरकारी पेंशनर वकील, प्रोफेसर और दक्षिणी महराष्ट्र के शासक आदि सभी उसके सदस्य थे। रानडे के अनुरोध पर सन् 1872 में सभा ने महाराष्ट्र के विभिन्न जिलों का आर्थिक सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण की रिपोर्ट दूसरे साल प्रकाशित हुई। इस प्रकार की जानकारी प्राप्त करने में पहली बार ऐसा हुआ कि सरकार की सहायता नहीं ली गई। ऐसे स्वैच्छिक कार्यकर्त्ताओं का एक संगठन बनाया गया जिन्होंने आर्थिक जांच पड़ताल को आपसी सद्भाव का काम समझा। इसके अतिरिक्त यह जांच स्वतन्त्र रूप से की गई थी, इसलिए उसकी रिपोर्ट में सरकार के प्रतिकूल भी कुछ बातें कहने में कोई आगा-पीछा नहीं किया गया। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया कि अहमदनगर, शोलापुर तथा कई अन्य जिलों के किसानों की आर्थिक दुर्दशा के लिए कुछ मायनों में सरकार की राजस्व नीति ही उत्तरदायी है। सन् 1874 में सभा ने एक ज्ञापन तैयार किया, जिसमें भारत के लिए उत्तरदायी सरकार बनाने की मांग की गई तथा उस ज्ञापन को ब्रिटिश पार्लियामेंट, बड़े अफसरों और समाचारपत्रों को भेजा। इसका मसौदा रानडे ने तैयार किया था। इसमें मांग की गई थी कि ब्रिटिश पार्लियामेंट

में भारत के प्रतिनिधि भी शामिल होने चाहिए और जब भारतीय विषयों पर कोई निर्णय लेना हो तो उनसे भी सलाह ली जानी चाहिए। और यह भी योजना बनी कि भारत के विभिन्न प्रान्तों से, वे करदाता, जो 50 रुपया सालाना कर देते है, 18 प्रतिनिधि चुनेंगे । इस ज्ञापन के समर्थन मे भारत के सभी भागों से हजारों की संख्या में हस्ताक्षर प्राप्त किए गए । इस प्रकार भारत में उन्होंने एक राजनीतिक मांग बनानी आरम्भ कर दी । यह मांग इसलिए थी कि भारतवासी अपने से सम्बन्धित निर्णयों में हिस्सा ले सकें । उन्होंने लोगों के दिमागों में जो बीज बोये वे आगामी दशाब्दियों में बढ़कर कई गुने हो गए। इस प्रयत्न से ऐसी राजनीतिक आकांक्षाओं की चिनगारियां उठी, जो 1857 के स्वातंत्र्य संग्राम के दमन के बाद भी जीवित थी। ब्रिटिश सरकार इस ज्ञापन को राजद्रोहात्मक नहीं कह सकती थी, क्योंकि इसमें भारतीयों की ओर से सहकारिता की बात कही गई थी । लेकिन वास्तव में उन्होंने इस साहसिक प्रयत्न को पसन्द नहीं किया ।

सभा ने सन् 1875 में भारत की एक रियासत के मामले में शासक की ओर से हस्तक्षेप करने का निश्चय किया । मल्हराव गायकवाड़ को जो बड़ौदा का शासक था, राजगद्दी से उतार कर गिरफ्तार कर लिया गया और उस पर मुकदमा चलाया गया। मल्हराव अच्छा शासक नही था । दादाभाई नौरोजी उसके दीवान थे। उन्होंने उसके राज्य से भ्रष्टाचार अन्याय को हटाने की बहुत कोशिश की, लेकिन उन्हे बिलकुल सफलता नहीं मिली और अन्त में उन्हें इस्तीफा देना पड़ा । बम्बई की सरकार ने गायकवाड़ को अपने मुकदमे के लिए एक वकील रखने की भी आज्ञा नही दी और न इसके लिए रुपया ही दिया यह सही है कि

यह शासक भ्रष्टाचार और निरंकुश शासन के लिए बदनाम था, लेकिन सरकार की ओर से उसके साथ जो व्यवहार हो रहा था उससे वह अत्यन्त उद्धत और मनमाना हो गया था। उससे एक खराब मिसाल तैयार हो रही थी। सरकार के इस मनमाने व्यवहार के कारण जनता की सहानुभूति गायकवाड़ के प्रति हो गई थी। पुणे में सार्वजनिक सभा के माध्यम से जनता ने अपने विचार प्रकट किए। 'जगत काका' जी. डब्लू. जोशी ने पुणे निवासियों की ओर से शासक के बचाव के लिए एक लाख रुपये तार द्वारा भेजे। सभा के तत्वावधान में एक सार्वजनिक सभा बुलाई गई। जिसमें लगभग 3 हजार लोगों ने भाग लिया। सभा ने एक प्रस्ताव पास कर वाइसराय को एक आवेदनपत्र भेजने का निश्चय किया। इस आवेदनपत्र का मसौदा रानडे ने तैयार किया।

इस पत्र में बड़ौदा राज्य के मामलों में पुणे में लोगों के अधिकारों का वर्णन किया गया था। उसमें लिखा था, "आपके अभ्यावेदक पेशवाओं की प्राचीन राजधानी के निवासी होने के नाते महान मराठा राज्य से, जिसमें बड़ौदा, इन्दौर और ग्वालियर आदि सम्मिलित हैं, अनेक और नाना प्रकार के बन्धनों और रुचियों से बंधे हुए हैं। इन राज्यों में उनके साथी देशवासी अनेक पदों पर विभिन्न हैसियतों से काम कर रहे हैं। वे इन राज्यों के कल्याण के लिए और उनके विकास के लिए हर सम्भव और न्यायसंगत उपाय करना चाहते हैं।" इस आवेदनपत्र में यह इंगित किया गया था कि भारतीय रियासतों के स्थायित्व पर ही ब्रिटिश सरकार की शक्ति निर्भर है जैसा कि 1857 के विद्रोह से सिद्ध हो चुका है। राजाओं के गैर जिम्मेदाराना व्यवहार के लिए, पत्र में, राजनीतिक परिस्थितियों को दोषी ठहराया गया था। उसका कहना था कि ब्रिटिश सरकार राजाओं को जो सुरक्षा देती है,

उसी के कारण व अपने आपको बहुत सुदृढ़ और सुरक्षित समझने लगे हैं और अपने राज्य के सरदारों और प्रजा की ओर से उदासीन हो गए हैं। रियासत और उसके शासक में भेद बताते हुए उसमें कहा गया, कि राजाओं के कुकर्मों और गलतियों के लिए प्रजा को दण्डित करना न्यायसंगत नहीं है। इसका अर्थ यह था कि मल्हराव के कुशासन के कारण बड़ौदा राज को ब्रिटिश राज में मिला लेना उचित नहीं है, अन्त में उस पत्र में सुझाव दिया गया कि मल्हराव के साथ निष्पक्ष न्याय करने के लिए भारतीय और ब्रिटिश जनों की मिली-जुली न्यायपीठ बनायी जानी चाहिए तथा अन्य रियासतों के शासकों का एक कमीशन बनाना चाहिए, जो जूरी की भांति उस न्यायपीठ की न्याय करने में सहायता करे। इस पत्र का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। न्यायपीठ में भारतीय और अंग्रेज दोनों जज रखे गए। वाइसराय ने हुक्म दिया कि बड़ौदा राज को ब्रिटिश राज में न मिलाया जाए। मल्हराव को अपने लिए एक वकील रखने की आज्ञा मिल गई। पिछले रेजीडेंट को जहर देने के मामले में जजों की एक राय नहीं थी, वे सहमत नहीं थे कि मल्हराव ने जहर दिया होगा। लेकिन सरकार उसी को दोषी मानती थी और इसलिए उसे दक्षिण भारत भेज दिया गया था। सार्वजनिक सभा ने विरोध किया कि जब अपराध सिद्ध ही नहीं हुआ तो राजा को निर्वासित क्यों किया गया। इस विरोध से लाभ तो कुछ हुआ नहीं उल्टी सरकार की नाराजगी बढ़ गई। सरकार को यह भी पता चल गया कि इस संवैधानिक विरोध के पीछे रानडे का हाथ था।

सन् 1875 में, यह किस्सा खत्म भी न हुआ था कि अहमदनगर और शोलापुर जिलों में भूमि सम्बन्धी विद्रोह शुरू हो गए। प्रशासकीय रिपोर्टों में इन्हें दक्षिण विद्रोह का नाम दिया

गया । ये विद्रोह साहूकारों के विरुद्ध हुए । खूब लूटमार हुई, खून-खराबा हुआ और आगजनी की घटनाएं हुईं । मांग यह थी कि ऋण बन्धक (बौंड) वापिस कर दिया जाएं । सभी लोगों का कहना था कि साहूकारों की लालच, चालाकी और निर्दयता भरी बुरी और बदनाम आदतों के कारण ही गरीब कर्जदारों में क्रोध भड़क उठा है और विद्रोह के रूप में सामने आया है। वास्तव में अनेक कारणों में से यह एक था । अफसरों ने दूसरे कारणों की तो उपेक्षा कर दी और केवल साहूकारों की लालच वाली आदतों पर ही ध्यान दिया । विद्रोहों के समाप्त होने पर रानडे ने इस घटना से सम्बन्धित एक आवेदनपत्र का मसौदा सार्वजनिक सभा के लिए तैयार किया । उसमें कहा गया कि ऋण लेने वाले विशेष रूप से किसान या रियाया होते हैं । हो सकता है कि लालची ऋणदाता साहूकार अपने लालच के कारण उन्हें धोखा देते हो । लेकिन सरकार की राजस्व वसूली की नीति भी इतनी खराब है कि जिसके कारण किसान को उधार लेनें के लिए मजबूर होकर इन साहूकारों की शरण लेनी पड़ती है और इसी नीति के कारण किसान अपना ऋण चुकाने में असमर्थ रहते हैं। ऋण न चुका सकने की स्थिति मे उन्हें अपने घर की चीजों बर्तन, भांडे और जानवरों यहां तक कि जमीन और रहने के घरों से भी हाथ धोना पड़ता है । साहूकारों के विरुद्ध विद्रोह उन्ही रियासतों मे हुए जहां राजस्व का बोझ बहुत अधिक था, असहनीय था । अन्त में बात यही आकर ठहरी कि

सरकार की राजस्व नीति भी दोषी है--उसी के कारण विद्रोह हुए है। इसका उपाय केवल साहूकारों के कुकर्मो को रोकना ही नही था बल्कि सरकार की राजस्व नीति को बदलना भी था। इन तर्कों को सरकार ने स्वीकार नही किया, लेकिन सच होने के कारण वह उनसे इनकार भी नही कर सकती थी, इसलिए उसे बेचैनी होने लगी।

सन् 1876 में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक ऐक्ट पास किया जिसके अनुसार वहां के राजा की उपाधि बदल गई। अब वहां की रानी भारत की साम्राज्ञी भी बन गई। इससे प्रधानमंत्री डिजराइली जैसे इंग्लैण्ड के साम्राज्यवादी शासकों का तो अहं सन्तुष्ट हुआ, लेकिन भारत में इससे किसी को कोई खुशी नही हुई। इस प्रकार का परिवर्तन करके ब्रिटिश लोग यही चाहते थे कि भारतवासियों को प्रभावित कर सकें। यद्यपि भारत की राजधानी उस समय कलकत्ता थी, फिर भी रानी के नए नाम और उपाधि की घोषणा करने के लिए जनवरी 1877 में दिल्ली में एक दरबार का आयोजन किया गया। भारतीय शासकों और जनता से यह आशा की गई थी कि वे दरबार में सम्मिलित होकर अपना सम्मान और स्वामिभक्ति प्रदर्शित करेंगे। लेकिन पूणे के लोगों ने वह सब अपने ही तरीके से किया। रानडे ने दिल्ली में रानी के प्रतिनिधियों को देने के लिए एक अभिभाषण का मसौदा तैयार किया। उसमे उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि जब यहां की जनता साम्राज्य के प्रति निष्ठावान होने का वचन देती है तो उसे अपनी शिकायतें और आकांक्षाएं भी प्रकट करने का अधिकार होना चाहिए। जब यह विचार लोगों को मालूम हुआ

तो ऐंग्लो-इंडियन प्रेस को धक्का लगा। उन्होंने कहा कि यह गुस्ताखी है। पूणे के कुछ अग्रणी लोग भी आगा-पीछा करने लगे। रानडे का तर्क था कि जब ब्रिटिश रानी ने भारत की साम्राज्ञी का पद ग्रहण किया है तो उसे भारत की परम्पराओं के अनुसार ही कार्य भी करना चाहिए। हमारे यहां खुशी के अवसरों पर राजा लोग बड़े-बड़े इनाम और वरदान देते हैं। और यदि जनता इस अवसर पर कुछ सहूलियतें और अधिकार मांगे तो इसमें अनुचित ही क्या? सभा के तत्वावधान में पूणे के नागरिकों की मीटिंग में भाषण देने के लिए रानडे ने बम्बई से अपने दो सुयोग्य मित्रों-बाल मंगेशवागले और काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग को आमंत्रित किया। उन्होंने अभिभाषण में मांगों को सम्मिलित करने के विचार का समर्थन किया और सभी लोगों ने उनकी बात मान ली। रानडे के मसौदे से सभी सहमत थे। वह 'जगतक का' जोशी के हाथ दिल्ली भेजा गया और महारानी के प्रतिनिधि को दे दिया गया। भाषण की शैली बहुत सुन्दर थी। उसकी भाषा विनम्र थी और वह देखने में स्वामिभक्ति पूर्ण था। लेकिन रानी के 'साम्राज्ञी' की उपाधि ग्रहण करने और दिल्ली में भारतीय राजाओं और जनता को प्रभावित करने के लिए दरबार आयोजित करने के विचार का बड़ी नम्रता से विरोध प्रकट किया गया था। इस परिवर्तन के महत्त्व को कम करने के लिए भाषण में कहा गया कि यहां तो साम्राज्य पहले से ही है। पार्लियामेंट में विचार-विमर्श के बीच कहा गया था कि साम्राज्ञी की उपाधि भारत-विजय से

सम्बन्धित है। यह सुनकर हम लोग डर गए कि अब तो भारतवासियों को ब्रिटेनवासियों की अपेक्षा बहुत कम अधिकार मिलेंगे। लेकिन प्रधानमंत्री द्वारा दिए गए आश्वासनों ने हमारा डर दूर कर दिया। हमारे यहां की यह एक पुरानी प्रथा है कि राजगद्दी पर बैठने अथवा नई उपाधि ग्रहण करने के अवसर पर राजा की ओर से प्रजा को बड़े इनाम, वरदान और उपाधियां दी जाती हैं, सरदारों को ऊंचे पद दिए जाते हैं और सुपात्रों को दान। हम आपका ध्यान इस प्राचीन परम्परा की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। हम निम्नांकित विशेषाधिकारों की मांग करते हैं। भारतीय शासकों को अलग-थलग और नियंत्रण में रखने के बदले प्रशासन के मामलों में, उन्हें बुलाकर, उनसे सलाह मशविरा करना चाहिए। (इस समय उनके राज्यों में फौजी कैम्प स्थापित हैं और सरकारी अधिकारी (पोलीटिकल एजेन्ट) तैनात हैं।) इसके लिए एक विधान सभा या सम्मेलन का आयोजन होना चाहिए इन सभाओं में ऐसे प्रश्नों पर बातचीत होनी चाहिए, जैसे सीमा-विवाद, शासकों को कुशासन से रोकना, गोद लेने के प्रश्न और मुद्रा की समस्याएं-आदि। मुगल शासन की भांति ही अंग्रेजी साम्राज्य को भी चाहिए कि सर्वोच्च पदों पर काम करने का रास्ता भारतीयों के लिए भी खुला रखे। अब ब्रिटिश पार्लियामेंट ही यहां पर सर्वोच्च सत्ता है। अतः कुछ भारतीय प्रतिनिधियों को भी उसमें स्थान मिलना चाहिए जिससे वे अपने देशवासियों की दशा और और उनकी मांगों को पेश कर सकें। 'साम्राज्ञी' की उपाधि ग्रहण करने के इस सुअवसर पर हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में भारतवासियों को भी ब्रिटिश नागरिकों जैसे ही अधिकार मिलने चाहिए और उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के अधिकार भी मिलने चाहिए। उस

भाषण में यही सब प्रश्न उठाए गए थे। राजाओं को इस भाषण की प्रति तो दी ही गई, साथ ही एक और खुला पत्र उनको बांटा गया, जिसमें उनसे अपील की गई थी कि इस नए युग में वे अपनी भूमिका निभाएं। यह पत्र भी रानडे ने ही तैयार किया था पर उस पर हस्ताक्षर किए थे उनके मित्रों 'जोशी काका' और 'गोवन्दे' ने।

जिस समय दिल्ली में दरबार का आयोजन जोरशोर के साथ हो रहा था और उस की तैयारी में अनाप-शनाप रुपया खर्च हो रहा था, उसी समय महाराष्ट्र के कुछ जिलों में भयंकर अकाल पड़ा। कहते हैं ऐसा अकाल पहले कभी नही पड़ा था। [रानडे ने सार्वजनिक सभा के द्वारा जनता को यह बतलाया कि किस प्रकार उन अकाल पीड़ित लोगों की सहायता की जा सकती है। ब्रिटिश भारत की सरकार को पहली बार बंगाल, मद्रास, और बम्बई प्रेसीडेंसियों में एक साथ भीषण अकालों का सामना करना पड़ा। सरकार ने आधुनिक तरीकों से समस्या को सुलझाया। अकाल के राहत कार्य शुरू किए गए। रानडे ने सोचा कि यदि गैर सरकारी लोग सहानुभूति-पूर्वक अकाल पीड़ित की मदद करेंगे तो कार्य कहीं अधिक अच्छा और प्रभावपूर्ण होगा। रानडे के अनुरोध पर सार्वजनिक सभा ने अनेक जिलों में अपनी शाखाएं खोल दीं और वहां अपने प्रतिनिधि और कार्यकर्ता रखे जिससे वे पूणे शोलापुर, सतारा, अहमदनगर और बीजापुर आदि अकाल पीड़ित स्थानों में जाकर राहत कार्य कर सकें। उन्हीं के द्वारा सभा को लोगों, उनके मवेशियों और उनकी फसलों का हाल मालूम होता रहता था। वे ही लोग उन्हें बतलाते रहते थे कि उन जिलों में कितने आदमी और मवेशी गांव छोड़ कर चले गए, फसल बोई गई या नहीं, फसल का क्या हाल है, वर्षा हुई या नहीं,

पेय जल मिलता है या नहीं आदि । ये सारी सूचनाएं उनके द्वारा इकट्ठी करके रानडे ने अभ्यावेदन बनाया और सभा के द्वारा सरकार को भेज दिया । उसमें सुझाव दिए गए थे कि किस जिले के अकालपीड़ितों की सहायता उनकी परिस्थितियों को देखते हुए किस प्रकार की जाए । जहां सरकार और उसके कर्मचारियों ने राहत कार्य बड़े जोश और उत्साह से किया, वहां सभा ने उनकी प्रशंसा की लेकिन साथ ही उनकी गलतियां बतलाने में भी नहीं हिचकचाई । उस अभ्यावेदन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि उसमें अकाल के कारणों का विश्लेषण किया गया था । और राहत के उपाय सुझाए गए थे । इन विचारविमर्शों में रानाडे इतनी गहराई तक पहुंच गए, जहां अब तक न तो कोई सरकारी अधिकारी पहुंचा था और न कोई जन साधारण । उनको इस समस्या की असीमता और गंभीरता का ज्ञान तो था ही, उसके विषय में पूरी जानकारी भी थी । अकाल समाप्त होने पर रानाडे ने अपने एक लेख में बम्बई में अकालपीड़ितों के लिए किए गए राहत कार्यों के लिए सरकार की प्रशंसा की और कहा कि इन कार्यों के फलस्वरुप लोगों को अपने शासकों के ऊपर पूरा भरोसा हो गया है । 'इस प्रेसीडेंसी में' अकाल के दौरान सरकार के प्रबन्ध की उन्होंने प्रशंसा की । लेकिन जब उस समय की गलतियां और व्यवस्था की कमियां बतलाने का मौका आया तो वह भी उन्होंने खुले दिल से जनता के सामने रखी । बम्बई का गर्वनर सर रिचार्ड टेम्पिल और मि० गिब्स ही अकाल की व्यवस्था कर रहे थे और उन्हीं दोनों की आलोचना की गई । रानडे ने कहा कि सरकार का यह कहना कि थोड़े लोग ही अकाल से पीड़ित थे—गलत है । उनका कहना यह भी गलत है कि बहुत कम लोग अकाल से मरे और भू-राजस्व में राहत देने की आवश्यकता नहीं है । रानडे

ने पूरे तथ्य और आंकड़े प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया कि ये आसानी से स्थापित की गईं कल्पनाएं और ये कड़े उपाय बिल्कुल अन्यायपूर्ण हैं। प्रभावित जन संख्या 5 से 10 प्रतिशत नही बल्कि 50 से 60 प्रतिशत तक है, निष्क्रमण और मृत्यु से 4 प्रतिशत नहीं, बल्कि 25 से 35 प्रतिशत तक आबादी कम हुई है। लोगों को एक दिन के लिए एक-एक पौंड अनाज मिलता है जो मृत्यु और धीमी भुखमरी को रोकने के लिए आवश्यकता से आधा है—अपर्याप्त है। एक बार पहले मि० गिब्स ने स्वयं ही लिखा था कि अभाव के समय में लोगों को भू-राजस्व में खूब छूट देनी चाहिए। रानडे के इस लेख से रिचार्ड टम्पिल को कोई खुशी नहीं हुई। इसके अतिरिक्त बम्बई की सरकार को सभा का यह सुझाव भी पसन्द नही आया कि अभी हाल में राजस्व के बढ़ाने और लगान वसूल करने के कठोर तरीके भी अकाल के कारणों में से एक हैं।

जिस समय रानडे राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में समाज सुधार का काम कर रहे थे, उस समय की एक घटना का वर्णन करना यहां आवश्यक है। यह उस समय की बात है। जब स्वामी दयानन्द पूणे आए थे। स्वामी दयानन्द के विषय में तो सभी जानते हैं। उनका जन्म सन् 1824 में काठियावाड़ में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उस समय उनका नाम मूलशंकर था। बचपन में ही उन्होंने जो चमत्कार दिखालाया, वह आश्चर्यजनक था। कहते हैं कि 14 वर्ष की आयु में ही पूरा यजुर्वेद उन्हें जवानी याद था। एक बार शिव त्रयोदशी की रात को उन्होंने देखा कि एक चूहा शिवजी की मूर्ति पर उछल-कूद मचा रहा है और इधर-उधर पड़े पूजा के द्रव्यों को खा रहा है। यह देख कर उनका विश्वास विचलित हो गया। उसी दिन से उन्होंने सोच लिया कि ईश्वर मूर्ति के अन्दर नही है। ईश्वर की खोज में वह घर से निकल

पड़े और सन्यासी वन गए और उन्होंने अपना नाम दयानन्द सरस्वती रख लिया । उन्होंने सभी धर्मों और दर्शनशास्त्रों का अध्ययन किया। सन् 1875 में जब उनके विचार परिपक्व हो गए तब उन्होंने एक नए धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसका नाम उन्होंने आर्यसमाज रखा । इसे वह आर्यो का सच्चा विशुद्ध धर्म कहते थे। इससे पहले सन् 1872 में कलकत्ता में ब्रह्मसमाज के सम्पर्क में आए और 1874 में बम्बई और पूणे में प्रार्थना समाज के। स्वामी दयानन्द ने सभी धर्मों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वह स्वभाव से सन्त थे और अपने सम्प्रदाय के विषय में उनके निश्चित और स्पष्ट विचार थे । चतुर वक्ता होने के कारण वह बहुत अच्छे भावपूर्ण और प्रभावोत्पादक भाषण देते थे। उत्तरी भारत में अपने दौरे के दौरान उन्होंने लोगों के हृदय में हिन्दू धर्म के प्रति अभूतपूर्व जोश पैदा कर दिया । स्वामी दयानन्द के विचारों और ब्रह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाज के विचारों के बीच भारी अन्तर था । स्वामीजी वेदों को सर्वोच्च प्रमाण मानते थे, ब्रह्मचर्य और सन्यास के आदर्शों पर जोर देते थे और ईसाई धर्म और इस्लाम के कट्टर विरोधी थे । समाज-सुधार का पक्का समर्थन, वैदिक आदेशों के आधार पर विधवा-विवाह, जातिप्रथा का निषेध और स्त्री शिक्षा आदि उनके ऐसे सिद्धान्त थे जिनके कारण वह प्रार्थना समाज के निकट सम्पर्क में आए । इसलिए जब सन् 1874 में वह बम्बई आए तो रानडे और उनके समाज सुधारक दल ने उन्हें पूणे आने का निमंत्रण दिया । उनका विचार था कि जो लोग प्रार्थना समाज के सुधारकों को पश्चिमी सभ्यता के रंग में रगा हुआ समझ कर उनके प्रति उदासीन थे, शायद उस संन्यासी के कहने पर समाज सुधार की ओर आकर्षित हो जाएंगे, जो स्वयं ही पश्चिम को अस्वीकार करता है ।

स्वामीजी पूणे में ही दो महीने रहे और बुधवार पेठ में भिड़े के वाड़े में पन्द्रह भाषण दिए। रानडे ने वहाँ सारा बन्दोवस्त किया और नियमित रूप से भाषणों के दौरान उपस्थित रहे। स्वामीजी के बोलने का ढंग आकर्षक, प्रभावशाली और हृदय को छूने वाला था और वह कई बार लच्छेदार भाषा का प्रयोग भी करते थे। उनके श्रोता तल्लीन होकर उनकी बात को सुनते थे। सभी उनकी प्रशंसा करते थे। लेकिन रूढ़िवादी समाज में उनकी सफलता के कारण, विरोध उत्पन्न हो गया। इन रूढ़िवादी शास्त्रियों के अगुआ थे रामदीक्षित आप्टे। उन्होंने स्वामीजी के विचारों के विरोध में एक के बाद एक कई भाषण दे डाले। स्वामीजी के भाषणों का अन्त होने से कुछ दिन पहले उनके प्रशंसकों ने रानडे के घर पर एक सभा का आयोजन किया और निश्चय किया कि उनके अन्तिम भाषण के बाद शाम को एक विशाल जुलूस निकाला जाए और शानदार विदाई दी जाए। सुधार विरोधियों को जब यह मालूम हुआ तो वे बहुत क्रोधित हुए। उनकी योजना तो यह थी कि स्वामीजी की प्रशंसा और गुणगान की काट करने के लिए उनकी हँसी उड़ाने और उन्हें नीचा दिखाने के लिए एक प्रदर्शन का आयोजन करेंगे। दूसरे दिन तड़के ही उन्होंने अपना जुलूस निकाला, जिसमें एक गधे के सिर पर पीला अंगोछा बांधा गया और शरीर पर रंगीन कपड़े पहना दिए गए। उसके चारों और शोर मचाते हुए लोगों का झुण्ड था। यह मजाकिया जुलूस सारे दिन शहर में घूमा और शाम को भिड़े के वाड़े में पहुंच गया। श्रीमती रानडे ने इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है : "स्वामीजी तथा सभी श्रोतागण ऊपर से उतरकर नीचे आए। सड़क पर एक हाथी और पालकी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। पवित्र ग्रन्थ (वेद) पालकी में रखे गए और स्वामीजी

को हाथी पर बैठाया गया। यह जुलूस चलने ही वाला था कि दूसरे दल के लोग आ पहुंचे। वह अपशब्द कह-कह कर जोर-जोर से चिल्लाने लगे। उस दिन सारे दिन वर्षा हुई थी और सड़कें कीचड़ से भरी हुई थी। जुलूस शानदार तरीके से गुण्डागर्दी की चिन्ता किए विना आगे चलता गया। इससे उपद्रवियों को वड़ा क्रोध आया और निराशा हुई। अव वे जुलूस में चलने वाले लोगों के ऊपर, जो कुछ भी हाथ में आता फेंकने लगे। वहुत-से गुण्डों ने तो सड़क पर से मिट्टी के ढेले उठा-उठा कर ही उन लोगों पर वरसाए। लेकिन हमारा जुलूस ऐसी गम्भीरता और शान से चला जा रहा था कि यद्यपि वहुत से लोगों की पीठ और अंगों पर मिट्टी के ढेलों की चोट लगी लेकिन किसी ने पीछे फिरकर उन गुण्डों की ओर देखा तक नही। वे सव चुपचाप शान्तिपूर्वक आगे चलते चले गए। लगभग पन्द्रह मिनट तक कीचड़ मिट्टी धूल फेंकने के वाद जव उन लोगों ने देखा कि उसका कोई असर नहीं हुआ तो वे पत्थर और लकड़ियों मारने लगे। इसी समय पुलिस आ गई। तुरन्त ही उसे देखते ही, सभी उपद्रवी भाग गए और हमारा जुलूस शान्तिपूर्वक आगे वढ़ता गया। इस सवकी तो पहले से ही आशंका थी। एक वार दिन में यह भी सुझाव दिया गया था कि जुलूस निकालने का विचार स्थगित कर दिया जाए। लेकिन रानडे ने कहा कि जुलूस तो हम फिर जरूर निकालेंगे। इससे हमें पता लग जाएगा कि समाजसुधार के झण्डे को ऊंचा रखने के लिए कितने लोग कृतसंकल्प हैं। जव हमारा सुधारक-दल इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाएगा, तभी विरोधियों को उसकी शक्ति का पता चलेगा। अत्याचार और उत्पीड़न की अग्नि के वीच में से गुजरे वगैर कोई भी सुधार कभी सफल नही हुआ है। सुधारवादियों को कठिनाइयां सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। मैं तो

चुपचाप सभी कठिनाइयों का सामना करने के लिए तैयार हूं चाहे नालियों की कीचड़ मेरे ऊपर उछाली जाए और चाहे मुझे पत्थरों से मारा जाए। मैं आप सब से प्रार्थना करता हूं कि आप लोग भी इसी प्रकार अपने सिद्धान्तों पर अटल रहें। रानडे जब घर वापिस आए तो उनके कपड़े पूर्ण रूप से कीचड में सने हुए थे। उन्होंने कहा कि ठीक ही तो है। मैं भी तो उन सबके साथ ही था।"

अध्याय"

देशद्रोह की झूठी शंका

(1878–1881)

सार्वजनिक सभा के आरम्भिक दिनों में उसके माध्यम से रानडे ने जो काम किया उसके महत्व को कम नहीं किया जा सकता। पड़ोसी जिलों की आर्थिक दशा पर, उत्तरदायी शासन की मांग पर, बड़ौदा के गायकवाड़ के मुकदमे पर, दक्षिण के भूमि सम्बन्धी विद्रोहों पर, भारत की साम्राज्ञी की उपाधि ग्रहण करने पर तथा दक्षिण के जिलों के अकाल पर जो रिपोर्टें और अभ्यावेदन लिखे गए वे पूर्ण सूचनात्मक थे। अच्छे सुविवेचित, तर्कसंगत और प्रभावशाली थे। वे सब रानडे ने लिखे थे और पथ-प्रदर्शनकारी थे। इसलिए व्यक्तिगत रूप से उन्हीं को सारा श्रेय मिलना चाहिए। परन्तु इनका महत्व कहीं अधिक था। वे अपनी प्रसिद्धि के लिए नहीं, सभा के लिए लिखते थे। वे सभा को प्रेरणा देते थे, अनुदेश देते थे और उसी की ओर से लिखते थे। अनेकों अवकाश प्राप्त पढ़े-लिखे लोगों को उन्होंने सार्वजनिक मामलों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया, उनके अंदर अमीर-गरीब तथा ऊंचे और नीचे देशवासियों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना जागृत की और उन्हें क्रियाशील नागरिक बना दिया। उन्होंने ऐसे नौजवानों का एक दल बनाया जो ईमानदार थे, मेहनती थे, ज्ञान प्राप्त करने को उत्सुक थे, और जनहित के कार्य के लिए घर-घर जाने को भी तैयार थे। उन्होंने इस देश में जो सदियों से सामन्तवादी राजनीति के नीचे दबा पड़ा था और जो उस समय विदेशी नौकरशाही के अधीन था, एक ऐसी विशिष्टता उत्पन्न की जो उस समय केवल

पाश्चात्य देशों में ही देखने को मिलती थी, वह यह थी कि जनता के मामलों पर स्वयं जनता ही विचार करे। न्याय के लिए संघर्ष करने का संवैधानिक तरीका उन्होंने प्रदर्शित किया। और अन्त में, उन्होंने अपने श्रोताओं और पाठकों के अन्दर राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न की जो भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति से मेल नहीं खाती थी।

इस छोटी-सी राष्ट्रीय भावना मे भी खलवली मच गई। कई ब्रिटिश अफसर 'निम्न श्रेणी' के लोगों की आलोचना सहन नहीं कर सके। नीति निर्धारण करना तो शासक वर्ग का काम था, भारतवासियों को उससे कुछ लेना-देना न था। ब्रिटिश अधिकारी सार्वजनिक सभा को राजद्रोही सोसाइटी समझने लगे। सभाइयों की सारी राजभक्ति और यह विश्वास कि भारत में ब्रिटिश राज्य एक वरदान है, उनकी शंका को दूर नही कर सका। आर्थिकऔद्योगिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में सभा ने जो जागृति उत्पन्न की थी, वह सभी को देखती थी। स्वदेशी दुकानें, राजनीतिक वादविवाद समुदाय, पुस्तकालय, वक्तृत्व कला क्लव, व्याख्यान मालाएं और व्यायाम-केन्द्र आदि सभी ब्रिटिश राज्य के लिए अपशकुन थे। वम्बई का गवर्नर सर रिचार्ड टेम्पिल गुस्से से लाल हो गया। यद्यपि रानडे ने ऐसा कोई काम नही किया था जिससे सरकार को नाराजगी का मौका मिलता फिर भी यह स्पष्ट था कि सभा के कारनामों के पीछे रानडे का हाथ है। अव सरकार ने इस नियम का आश्रय लिया कि मातहत जज पांच वर्ष से अधिक एक स्थान पर नही रह सकते और रानडे का तवादला नासिक कर दिया जो अपेक्षाकृत एक छोटी जगह थी। सर रिचार्ड ने यह तमाचा पूणे की जनता को मारा था। जनवरी सन 1878 में रानडे नासिक चले गये।

श्रीमती रानडे ने उनके वारे में एक किस्सा लिखा है जिससे मालूम होता है कि रानडे विद्वान थे, शरीफ और निष्कपट स्वभाव के

थे, लेकिन चतुर भी थे। एक बार सार्वजनिक सभा के कार्यकलाप का पता लगाने के लिए सरकार ने एक जासूस भेजा और रानडे ने ही उसका भंडा फोड़ा। पूणे में रहने के लिए एक अजनबी आया जिसने कहा कि मैं एक यात्री हूं और विभिन्न स्थानों के विद्वानों और सांस्कृतिक व्यक्तियों से जान-पहचान करना चाहता हूं। स्थानीय लोगो की वह बड़ी आवभगत करता था। उन्हें पान खिलाता, सिगरेट पिलाता, उनके साथ खेल खेलता और उन्हें वाद्य संगीत सुनाता। पूणे के अनेक बड़े-बड़े आदमी उसके घर आने लगे। सार्वजनिक सभा का सेक्रेटरी सीताराम हरी चिपलंकर भी उसके यहां आने वालों में था। जिससे सीताराम चिपलंकर की सभा के काम में काफी ढील-ढाल पड़ गई और अब वह [रानडे के पास भी बहुत कम जाता था। जब उससे पूछा गया तो उसने बतलाया कि वह उस अजनबी के पास कभी-कभी चला जाता है। अन्य लोगो ने भी जो उसके पास जाया करते थे उसकी खूब तारीफ की। उन्होंने कहा कि वह बड़ा बुद्धिमान, हंसमुख, मिलनसार और विद्वान है। रानडे ने पूछा, "लेकिन वह कहा से आया है : और वह क्या काम करता है? और अब तुम उसकी डाक देखना कि वह कहां से आती है और वह अपनी चिट्ठियां कहां भेजता है?" दो चार दिन के बाद ही चिपलंकर ने आकर बताया कि वह अपने घर पर अपनी डाक नहीं मंगवाता है। सुबह-सुबह जब वह टहलने जाता है तो उसी समय जनरल पोस्ट आफिस पहुंच जाता है। कल मैंने उसका पीछा किया, तब देखा कि वह एक लिफाफा खोल रहा था जिस पर शिमला की मोहर लगी हुई थी। इसके अतिरिक्त मेरा एक मित्र भी पोस्ट आफिस में काम करता है। उसने बतलाया कि उसके बहुत से पत्रों में कलकत्ता स्थित भारत सरकार के सेक्रेटरी का पता लिखा होता है। बस भंडा फूट गया और इसके बाद उसके पास लोगों का आना-जाना कम हो गया। एक दिन पता चला कि वह अपना सब सामान लेकर गायब हो गया है।

रानडे जनवरी सन् 1878 में नासिक गए थे। लेकिन फिर आराम करने और घर के कुछ वन्दोवस्त करने के लिए फरवरी में छुट्टी लेकर पूणे वापिस आ गए। पूणे में उन्हें सांघातिक टाइफाइड हो गया। एक वार तो उनकी हालत वड़ी नाजुक हो गई। और उनके ठीक होने की सारी आशाएं टूट गईं। लेकिन रानडे शांत थे। उन्होंने अपने-आपको भगवान के चरणों में अर्पित कर दिया था। उनके कहने पर एक पंडित निरन्तर उनके पास बैठ कर विष्णु सहस्रनाम का पाठ करता रहता था। विष्णु सहस्रनाम में परमात्मा के एक हजार रूपों का वर्णन है। जब वह अच्छे हो गए तो केवल अपनी पत्नी और स्कूल जाने वाले अपने एक भाई को अपने साथ नासिक ले गए और वड़ी उम्र की स्त्रियों को पूणे में ही छोड़ गए। वह रोज कुछ घंटे अपनी पत्नी को पढ़ना-लिखना सिखाते थे और पूणे अपन भाई की पढ़ाई-लिखाई की भी देखभाल करते थे। जब वह देखते कि उनकी पत्नी ने पढ़ाई में ढील डाल दी है और अपना काम नहीं किया है तो उन्हें वड़ा दुख होता था और वह अशांत हो जाते थे। उस समय वस एक आह भर कर वह चुप हो जाते थे। वह अपनी पत्नी के लिए पाकशास्त्र की किताव लाए और उन्हें हिसाव लिखना सिखाया; सुवह-सुवह वह उनसे मराठी में भक्ति की कविताएं सुनते थे।

जज के रूप में रानडे योग्य और निर्दोष थे। मनकर, जिसने अवर न्यायाधीश के रूप में कुछ दिन उनके साथ काम किया था और जो लगभग पच्चीस वर्ष से उन्हें जानता था, कहता है कि अपने मुकदमों की अत्यन्त धैर्यपूर्वक सूक्ष्म छानबीन करने में वह असाधारण रूप से सक्षम थे। जो भी मुकदमा उनके हाथ में आता, उसे भली-भांति समझते और उस पर विचार करते। उसके प्रत्येक दस्तावेज को ध्यानपूर्वक पढ़ते, तथ्यों का विशद विवेचन करते, गवाहियों को ठीक से समझते, समस्या के विभिन्न पक्षों का अध्ययन

करते और अन्त में जो फैसला देते उसके अकाट्य तर्क देते। उनके फैसले ऐसे होते थे कि कई बार उनकी प्रशंसा हाईकोर्ट में भी की जाती थी। पूर्ण रूप से सही और पक्का फैसला देने के लिए उन्हें घर पर बहुत मेहनत करनी पड़ती थी।

नासिक आकर भी रानडे के सार्वजनिक कार्यों में कुछ कमी नहीं आई। अब उन्होंने एक और नयाकाम शुरू कर दिया। वे मराठी में पुस्तकें लिखने और लिखवाने का काम करने लगे। मराठी पुस्तकें लिखने को वह खूब प्रोत्साहन देते थे। इसके लिए 'मराठी ग्रन्थोत्तेजक मंडली' नामक एक संस्था कायम की गई। तीन विद्वान व्यक्तियों की एक कमेटी नियुक्त की गई जो छपवाने के लिए किताबें चुनती थी। मई में रानडे के सुझाव पर लेखकों की एक कान्फ्रेंस बुलाई गई। यह अपनी तरह की पहली कान्फ्रेस थी। इसमें रानडे ने सक्रिय भाग लिया। 24 मई को एक महान विद्वान कृष्णशास्त्री चिपलंकर की मृत्यु पर शोक मनाने के लिए एक सभा की गई जिसमें रानडे ने भाषण दिया। अपनी विद्वता, सुरुचि, वाक्-पटुता और मराठी भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के कारण कृष्णशास्त्री चिपलंकर को सर्वत्र आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इसके अतिरिक्त वह रानडे का मित्र था और सार्वजनिक सभा का सक्रिय सदस्य भी था।

सन् 1878 से पढ़े-लिखे भारतवासियों और भारत की ब्रिटिश सरकार के बीच तनाव हो गया। सन् 1876 में इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री डिजराइली था। लार्ड सेलिसबरी भारत-मन्त्री और लार्ड लिटन भारत का वाइसराय था। इन तीनों ने मिलकर भारत में साम्राज्य शाही राज्य स्थापित कर रखा था। ये पड़ोसी देशों और विजित लोगों के प्रति बहुत खराब व्यवहार करते थे और लड़ने को तैयार रहते थे। अफगानिस्तान के साथ अकारण ही युद्ध आरम्भ

करना, जिसके खर्च का बोझ भारत को उठाना पड़ा, वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट, आर्म्स ऐक्ट और आई० सी०एस० प्रतियोगिता परीक्षा के लिए भारतीय परीक्षार्थियों की अधिकतम आयु सीमा कम कर देना, ये सब ऐसी बातें थी जिनसे सरकार की मनोवृत्ति का पता चलता था और इन्हीं के कारण भारतीय जनता में क्रोध की आग भड़की। जिस समय दक्षिण भारत में अभूतपूर्व अकाल की काली छाया मंडरा रही थी और लोग भुखमरी से मरते चले जा रहे थे, उसी समय दिल्ली में क्वीन विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित करने के लिए एक भव्य शानदार और अभूतपूर्व दरबार का आयोजन हो रहा था। सरकार के इस कृत्य से जनता में ऐसा क्रोध भड़का, जिसे दबाना कठिन हो गया। सरकार का रवैया भी ऐसा था जिससे आने वाले संकट का अनुमान लगाया जा सकता था। अब, शासन के दोषों को प्रकट करने और उसकी आलोचना करने मे जनता को कोई हिचकिचाहट नहीं होती थी। दैनिक समाचार पत्रों मे समाज सुधार के समाचारों के स्थान पर राजनीति और प्रशासन के समाचार आने लगे। विशेष रूप से बंगाल के देशी भाषाई समाचार-पत्रों में यह बात अधिक देखने में आई। उनमें से कुछ ने नील के खेतो में काम करने वाले मजदूरों तथा किसानों के पक्ष में ही लिखना शुरू कर दिया था। वे भारत सरकार के कर्त्तव्यों और कार्यों के विषय में विचार करते, उसकी आलोचना करते और भारतीयों को अधिक अधिकार देने के लिए हिमायत करते थे। यही काम रानडे की सार्वजनिक सभा महाराष्ट्र में कर रही थी। जब लार्ड लिटन ने देखा कि भारत में समाचार-पत्रों की शक्ति बड़ी शीघ्रता से बढ़ रही है और उनमें सरकार की आलोचना की जाती है तो उसे बड़ी चिन्ता हुई और उसने उन पर रोक लगाने के लिए कानून बनाने की सोची। 'जगत काका' जी० डब्लू० जोशी ने रानडे के सुझाव पर कलकत्ता में समाचार-पत्र

सम्पादकों की एक कान्फ्रेंस का आयोजन किया। सरकार देशी भाषाई समाचार-पत्रों से विशेष रुष्ट थी। उसकी क्रोधाग्नि की लपट में विशेष रूप से तीन पत्र आए--'अमृत बाजार पत्रिका', 'हालीशहर पत्रिका' और 'सोम प्रकाश'। लार्ड लिटन ने प्रस्तावित बिल का मसौदा बना कर तार से भारत मन्त्री को भेजा। उसकी स्वीकृति आने पर विधान परिषद की एक ही बैठक मे बिल पास कर दिया गया। यही 1878 का वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट था। इसके अनुसार मजिस्ट्रेट को अधिकार था कि वह किसी भी मुद्रक या प्रकाशक से जमानत जमा करा ले या बाण्ड भरवा ले कि वह ऐसी कोई बात नही छापेगा जो सरकार के विरुद्ध जनता को भड़काए। सरकार को अधिकार था कि अवांछनीय बात छापे जाने पर वह मशीन और जमा राशि जब्त कर ले। मजिस्ट्रेट के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील किसी न्यायालय में नही की जा सकती थी। इस बिल के कारण पूरे देश में भारतीय शिक्षित वर्ग में विरोध का तूफान उठ खड़ा हुआ। इसका विरोध करने के लिए कलकत्ता में एक सभा बुलाई गई जिसमें 5,000 व्यक्तियों ने भाग लिया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इस आन्दोलन में अग्रणी थे। जब रानडे छुट्टी पर पूणे आए तो उस समय सार्वजनिक सभा के तत्वावधान में इसी प्रकार की एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में निश्चय किया गया कि इस विषय पर वाइसराय को एक आवेदन-पत्र भेज देना चाहिए। आवेदन पत्र रानडे ने लिखा जो वाइसराय को भेज दिया गया। प्रेस की स्वतन्त्रता पर जो आघात किया गया था उसे रोकने के लिए रानडे ने बहुत दिलचस्पी दिखाई क्योंकि वह आरम्भ से ही समाचार-पत्रों को बड़ी मान्यता देते थे। उनका कहना था कि समाज और सरकार की गलतियों और बुराइयों को सुधारने के लिए यही एक सबसे शक्तिशाली साधन है। मगर सन् 1881 तक वह ऐक्ट रद्द नहीं किया जा सका।

गर्मी की छुट्टियों के बाद रानडे नासिक आ गए। वहां आकर वह अपने कार्यक्रमों में व्यस्त हो गए। वह सभाओं का आयोजन करते, लोगों को वाद-विवाद के लिए बुलाते और भाषण देते। उन्होंने एक पुस्तकालय, प्रार्थना समाज सुधार की शाखा खोली तथा लड़कियों के स्कूल में अपनी उत्सुकता दिखायी। समाज सुधार के कामों में गोपाल हरि देशमुख बड़ी दिलचस्पी से उनकी सहायता करते थे। उन्हें लोकहितकारी के नाम से ही लोग जानते थे और उन्होंने अपने सौ पत्रों में रूढ़िवादी हिन्दुओं के रीति-रिवाजों पर बड़ा जोरदार प्रहार किया था। संयोग से वह वहां पर संयुक्त न्यायाधीश भी थे।

पाश्चात्य विद्या पढ़ने के लिए रानडे अब भी बड़े उत्साहपूर्वक सबसे कहते थे, नासिक में दिए गए उनके एक भाषण का शीर्षक था, 'अंग्रेजी भाषा का ज्ञान' ज्ञान या विद्या शब्द का प्रयोग करके, जिसमें विज्ञान और कला दोनों सम्मिलित थे, उन्होंने भारतीय ज्ञान के मूल्यों की तुलना पश्चिमी ज्ञान से की। उन्होंने कहा, 'विद्या ग्रहण करने के बाद हममें यह समझने की शक्ति आ जानी चाहिए कि हम कौन हैं, हमारे क्या कर्त्तव्य है, और इस संसार में हमें क्या करना है।" हमारे किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इस प्रकार के ज्ञान की शिक्षा नहीं दी गई है। यहां तक कि श्रीराम के समय में भी जब हमारी संस्कृति गौरव की पराकाष्ठा पर थी, हमारा राष्ट्र अपने शैशवकाल में ही था। मनुष्य के अधिकारों की धारणा का पता इसी से चलता है कि जब एक शूद्र ने तपस्या करनी शुरू की तो राम ने उसे मृत्युदण्ड दे दिया। हमारे बड़े से बड़े विद्वानों और साधारण जनता सभी के यही विचार हुआ करते थे कि राजा चाहे कोई भी हो, और वह कितना भी अन्यायी और अत्याचारी हो, उसकी आज्ञा का पालन तो अवश्य करना ही है, उसके विरुद्ध एक भी शब्द बोलना नरकगामी होना है। हमें यह विद्या पढ़नी चाहिए, हमें वह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो हमें अपने अधिकारों से अवगत कराए, और वह ज्ञान अंग्रेजी विद्या और संस्कृति

में है। हमें उस विद्या को पढ़ना चाहिए, इसलिए नही कि वह हमारे शासकों की भाषा है, इसलिए भी नही कि उसे पढ़ने से हमें सरकारी नौकरी मिल जाएगी, वल्कि इसलिए कि हम उसमें निहित उसके गुणों और उसकी विशिष्टताओं को जान सकें—समझ सकें। उसके गुणों के कारण ही चीनी और जापानी लोग भी उसके अन्दर निहित अप्राप्त निधि को प्राप्त करने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करते हैं और हजारों रुपये खर्च करते हैं।

नासिक से भी रानडे पूणे की सार्वजनिक सभा को निरन्तर सलाह देते रहते थे। उनकी वहुत दिनों से इच्छा थी कि सभा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मामलों पर विद्वतापूर्ण लेख लिखवाए और अपनी एक त्रैमासिक पत्रिका आरम्भ करके उसमें छपवाए। अव ऐसी पत्रिका आरम्भ हो गई थी और सीताराम हरि चिपलंकर उसके सम्पादक थे। यह पत्रिका अपनी तरह की पहली ही थी। इसमें विविध प्रकार की जानकारी और शिक्षा रहती थी। उसके पहले अंक में जो जुलाई 1878 में निकला, दुर्भिक्ष का पूरा वर्णन था, जो रानडे ने लिखा था। उनका लिखा हुआ एक लेख भी उसमें छपा, जिसका शीर्षक था 'फेमीन एडमिनिस्ट्रेशन इन वाम्बे प्रेसीडेंसी, (वम्वई प्रेसीडेंसी में अकाल प्रशासन)। सार्वजनिक सभा जनरल के पहले 17 अंकों में 41 लेख रानाडे के थे। ऐसा कोई अंक न था, जिसमें उनका लेख न हो। सन् 1879 की गर्मी की छुट्टियों में रानडे पूणे गए। वहुत से अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों ने उनसे भेंट करनी चाही। उन सवने स्वयं ही नेतृत्व की वागडोर उनके हाथों में दे दी। श्रीमती रानाडे लिखती हैं, "मेरे पति ने गर्मी की छुट्टियों में पूणे के लोगों के विचारों को एकत्र करके उन्हें सिलसिलेवार लगा कर उन्हें सही दिशा दी। उन्होंने उनके लिए यह सव इसलिए किया क्योंकि लोगों को उनके ऊपर विश्वास था।" लगभग इसी समय,

गर्मी की छुट्टियों में, आई० सी० एस० परीक्षा के लिए बनाए गए नए नियम के विरुद्ध अपने देशव्यापी अभियान के दौरान सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पूणे आए और रानाडे के मेहमान बनकर उनके यहां ही ठहरे। नये नियम के अनुसार, जो भारतीय इस प्रतियोगिता परीक्षा में बैठना चाहते थे, उनकी इसमें भाग लेने की अधिकतम आयु को कम कर दिया गया था। यह भारतीयों के लिए और भी अधिक कठिनाइयां पैदा करने के लिए किया गया था। पहले इस परीक्षा में बैठने की आयु 21 वर्ष थी जो घटा कर 19 वर्ष कर दी गई थी। यह जानबूझकर इसलिए किया गया था जिससे 'इंडियन सिविल सर्विस' की परीक्षा में बैठने की सम्भावनाएं भारतीय उम्मीदवारों के लिए न रह जाएं। कलकत्ता के नवगठित इंडियन एसोसिएशन ने एक आवेदनपत्र बनाया जिसमें अधिकतम आयुसीमा को बढ़ाने और इंग्लैंड और भारत में साथ-साथ परीक्षाएं सम्पन्न कराने की मांग की गई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को इसका विशिष्ट प्रतिनिधि चुना गया, जिससे वह विभिन्न प्रान्तों में जाकर समर्थन प्राप्त करें। इसका आशय यही था कि भारतवासियों के हृदय में एकता और भाईचारे की भावना उत्पन्न की जाए। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने जब उत्तरी और पश्चिमी भारत का दौरा किया तो उन्हें बड़ी प्रोत्साहक प्रतिक्रियाएं दिखलाई दीं। जब वह पूणे आए तो रानाडे के यहां ठहरे। गर्मियों की छुट्टियों में राजनीतिक, और सामजिक कार्यकर्ताओं की मीटिंग उनके घर में पहले से ही होती रहती थी। जिस समय मीटिंग चल रही थी, विचार-विनिमय हो रहा था और योजनाएं बनायी जा रही थी, उसी समय अचानक एक तूफान आ गया।

राजनीतिक वातावरण तो वास्तव मे पहले से ही अन्धकारपूर्ण और धुंधला था। फड़के ने अपना विद्रोह आरम्भ कर दिया था।

पूणे के आसपास के गांवों में लूटमार शुरू हो गई थी और वहां से भाग-भाग कर शरणार्थी पूणे आ रहे थे। वासुदेव वलवन्त फड़के का जन्म सन् 1845 में पनवेल तहसील के गिरघोन नामक स्थान में हुआ था। विपरीत परिस्थितियों के कारण उसकी शिक्षा नहीं हो सकी थी इसलिए उसने 'मिलिटरी फाइनेंस डिपार्टमेंट' में काम करना शुरू कर दिया। विदेशी शासन के कारण उसके हृदय में वड़ी ग्लानि पैदा हो गई थी। जब उसकी मां मृत्यु शैय्या पर थी तो सरकार ने उसे उसकी सेवा करने के लिए छुट्टी नहीं दी थी। इससे उसका दिल सरकार के प्रति घृणा से भर गया था। एक बार फिर जब इसी तरह की घटना फिर उसके साथ हुई तो उसने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। विदेशी राज्य के विरुद्ध लोगों में विद्रोह भड़काने के लिए वह जगह-जगह गया और भाषण दिए। उसने पूणे, पनवेल, तासगांव और सेंट्रल प्रौविंसेज में कई स्थानों पर भाषण दिए लेकिन उसने देखा कि उसके भाषणों की कोई प्रतिक्रिया नही है। इससे शिक्षित वर्ग की ओर से उसे वड़ी निराशा हुई। फिर भी उसकी जोशभरी देश भक्ति हार मानने को तैयार नही हुई। वह अहमदनगर, नासिक, खानदेश और बरार जिलों की रामोशी, भील कोली आदि जनजातियों से मिला, जिन्होंने तुरन्त ही उसकी योजना को स्वीकार कर लिया। क्योंकि कानूनी शक्तियों के विरुद्ध विद्रोह करने की उन्हें आदत थी। वहुत सम्भव है कि फड़के ने देशभक्ति का जोश उत्पन्न करके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए उन लोगों को और उनके नेताओं को प्रेरित किया हो। पहला काम जो उसने किया वह था अमीरों को लूट कर धन इकट्ठा करना। उसके साथियों को यह वहुत अच्छा लगा। 1879 के अप्रैल और मई के महीनों में पूणे में और उसके आसपास डकैतियों का जोर था। शरणार्थियों की वातें सुन-सुनकर पूणे के लोग भी डर गए। लेकिन विद्रोहियों की इस घोषणा से कि

हम विदेशी सरकार का तख्ता उलट देंगे, सरकार में खलबली मच गई। फड़के की देशभक्ति अत्यन्त उच्च-स्तर की थी और वह बड़ी लगन से काम करता था।

सन् 1879 के मई महीने में एक दिन आधी रात को बुधवार वाड़ा और विश्राम बाग वाड़ा नामक दो स्मारकों में एकाएक आग लग गई। ये पूणे के पेशवाओं के स्मारक थे। लोगों ने अनुमान लगाया कि फड़के का विद्रोह अब शहर में भी फैल गया है। उच्च सरकारी अफसरों के मन में फिर यह सनक चढ़ गई कि सार्वजनिक सभा लुक-छिप कर अपने राजद्रोहात्मक कार्यक्रम चलाती है। उनका ख्याल था कि पूणे के शिक्षित वर्ग ने ब्रिटिश शासन का तख्ता उलटने के लिए ही यह साजिश की है, जिसका नेता फड़के है और उसका चलाया हुआ विद्रोह उसी का एक हिस्सा है। पूणे में लगी आगों को समझा गया है कि ये षडयन्त्रकारियों के इरादों का ऐलान है। ऐंग्लोइंडियन समाचार पत्र तो सभा को बहुत दिनों से राजद्रोही संस्था के रूप में दोषी ठहरा रहे थे। अब उन्होंने कहा कि इस संस्था और इसके इरादों को दबा दिया जाए। यह अफवाह फैल गई कि सरकार उस (सार्वजनिक सभा) के दफ्तर की तलाशी लेगी और उसके संचालकों को जेल में बन्द कर देगी। इन अफवाहों के कारण शहर में आतंक छा गया। इसी समय मालूम हुआ कि एक रानडे नामक व्यक्ति ने आग लगाई थी। लेकिन उसे अभी तक गिरफ्तार नहीं किया गया था। 'बाम्बे गजट' ने एक भड़काने वाला लेख लिखा और एम० जी० रानडे का नाम इस 'रानडे' से जोड़ दिया। रानडे ने स्वतन्त्र रूप से चुपचाप अपनी जाँच-पड़ताल शुरू कर दी और उन्हें सफलता भी मिली। पता लगा कि गवर्नमेंट बुक डिपो के रानडे नामक एक क्लर्क ने आग लगाई है। यह बुक-डिपो उन्हीं

वाड़ों में से एक में स्थित था। उसे बुलाकर कुछ नागरिकों के सामने उससे प्रश्न पूछे गए। पूछताछ के दौरान उसने स्वीकार किया कि आग उसने ही लगाई थी। इसके वाद उसे पुलिस के हवाले कर दिया गया। उसने कुछ गवन किया था और उसके सबूत मिटाने के लिए ही उसने आग लगाई थी। जो भी हो आग लगने के एक सप्ताह के अन्दर ही रानडे के पास तवादले का हुकम आ गया जिसमे उनसे कहा गया कि आप धूलिया जाकर तुरन्त सव जज के पद का चार्ज लीजिए। यह जगह नासिक से भी छोटी थी। और पूणे से और भी दूर थी। गर्मी की छुट्टियां समाप्त होने से पहले ही उन्हें पूणे से जाना पड़ा।

कुछ दिनों के वाद रानडे को लगा कि उनकी चिट्ठियां असाधारण रूप से देर में मिलने लगी हैं। ऐसा मालूम होता था कि उन्हें खोल कर फिर से वन्द किया गया हो। कुछ खुले हुए पत्र ऐसे भी होते थे जो पढ़े नही जाते थे। वे अत्यन्त अस्पष्ट होते थे और उनमें नीचे वासुदेव वलवन्त फड़के और हरिरामोशी के हस्ताक्षर होते थे। उनमें अगले छापे की तथा आदमी और हथियारों आदि के विपय में सूचना होती थी। रानडे उनको पढ़ कर वापिस उनके लिफाफों में रख कर चुपचाप मजिस्ट्रेट के पास भेज देते थे। लगभग दो महीने वाद उन्हें एक अजीव सा अनुभव हुआ। अंग्रेज असिस्टेंट कलेक्टर एक दिन शाम को रानडे के पास आया और उन्हें अपनी मोटर में अपने साथ ले गया। वातों ही वातों में उसने कहा कि मुझे वड़ा दुख है कि पिछले कुछ दिनों से मैं आपके ऊपर सन्देह करता रहा हूं।

फड़के का देशभक्ति पूर्ण किन्तु काल्पनिक विद्रोह असफल हो गया, और जुलाई में गंगानगर के पास एक जंगल में उसे गिरफ्तार कर लिया गया। उसकी एक डायरी भी सरकार के हाथ लग गई

जिसमें उसने अपनी आत्मकथा लिखी थी । उससे पता चला कि पूणे के ब्राह्मणों का इस विद्रोह से कोई मतलव नहीं था। लेकिन सरकार को विश्वास अब भी नहीं था । फड़के को मुकदमे के लिए पूणे लाया गया। शहर में रात का कर्फ्यू लगा दिया गया और मार्शल लॉ का एलान कर दिया गया । कुछ बड़े-बड़े हिन्दुस्तानी अफसरों को कर्फ्यू के समय बाहर घूमने के जुर्म में हिरासत में ले लिया गया । लोग आतंकित हो गए। जब फड़के का मुकदमा शुरू हुआ तो वकील लोग उसके लिए कोर्ट में बहस करने में आनाकानी करने लगे लेकिन 'जगत काका' उसका केस लड़ने के लिए सामने आए। उनसे पूछा गया कि क्या आपको मालूम है कि जो कुछ आप कर रहे हैं, उसका परिणाम क्या होगा ? जोशी ने उत्तर दिया, "मैं खूब जानता हूं कि इसका क्या परिणाम होगा। सरकार अधिक से अधिक यही तो कर सकती है कि वासुदेव बलवन्त फड़के के साथ-साथ गणेश वासुदेव जोशी को भी फांसी पर चढ़ा दे।" फड़के दोषी सिद्ध हुआ जैसा कि पहले से ही मालूम था। लेकिन 'जगत काका' और कुछ अन्य बम्बई के योग्य वकीलों की बहस और अधिवक्तृता के फलस्वरूप वह मृत्युदण्ड से बचा लिया गया। लेकिन उसे देश निकाला दे दिया गया। सन् 1883 में अदन में एक बन्दी के रूप में फड़के की मृत्यु हो गई।

जब यह मुकदमा खतम हो गया तब रानडे ने पूरी घटना का वर्णन करते हुए सार्वजनिक सभा की पत्रिका में एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से बतलाया कि कुछ डकैतियों का विद्रोह से कोई सम्बन्ध नहीं था और वे केवल फड़के के नाम से डाली गई थीं। फड़के ने स्वयं बहुत कम डकैतियां डाली थीं। गिरफ्तार किए गए डाकुओं में से प्रत्येक का विश्लेषण करते हुए रानडे ने स्पष्ट रूप से कहा कि उपद्रव का असली कारण

राजनीतिक न होकर आर्थिक था। सारी उत्तेजना और अशान्ति की जड़ लोगों की अत्यधिक गरीबी है और गरीबी का कारण विशेष रूप से सरकार की राजस्व नीति है, जिसमें किसी का भी किसी प्रकार का ध्यान नहीं रखा जाता।

सन् 1880 में 'जगत काका' गणेश वासुदेव जोशी की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु से रानडे को भारी धक्का लगा। उनके लिए एक स्मारक बनवाने के लिए धन इकट्ठा किया गया। रानडे ही इस काम में अगुआ थे। एक प्लाट खरीदा गया जिसमें बाद में सार्वजनिक सभा के लिए एक इमारत बनवाई गई और उसमें ही एक हाल का नाम स्वर्गीय जोशी के नाम पर रखा गया।

सन्देह का जो बादल रानडे के सिर पर छाया हुआ था, वह धीरे-धीरे छट गया। सर रिचार्ड टेम्पिल ने बम्बई के गवर्नर के पद से इस्तीफा दे दिया। (रानडे ने सार्वजनिक सभा जनरल में 'सर रिचार्ड टेम्पिल्स एडमिनिस्ट्रेशन' शीर्षक से एक अत्यन्त कटु लेख लिखा)। रानाडे की उपेक्षा करने के लिए उनका तबादला धूलिया कर दिया गया था। लेकिन अब सन्देह दूर हो गया था, इसलिए 1881 में प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट के पद पर उनका वापिस बम्बई तबादला करके भेज दिया गया। प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट की हैसियत से रानडे अब फौजदारी कानूनों और मुकदमों का काम करने लगे थे। ऐंग्लो इंडियन समाचार-पत्रों के उनकी ओर से द्वेषपूर्ण विचार थे। इसलिए उन्होंने उन्हें साम्प्रदायिक पक्षपात करने के लिए दोषी ठहराने की कोशिश की। उन्होंने शिकायत की कि जब एक हिन्दू ने सौ रुपये चुराए तो रानडे ने उसे एक महीने की जेल की सजा दी लेकिन जब एक यूरोपियन ने केवल पचास रुपये ही चुराए थे तो उसे छह महीने की जेल की सजा दी। यह कोई मामूली बात नहीं थी। लेकिन थाना के एक यूरोपियन डिस्ट्रिक्ट जज कागलिन

ने प्रेस में रानडे के न्याय को सही बतला कर उनका समर्थन किया। इसमें शक नहीं कि उसने अपना नाम बदल कर ही उनका समर्थन किया था। अपराध की गंभीरता के अतिरिक्त जज को और भी अनेक बातों की ओर ध्यान देना पड़ता है। जब कागलिन ने रानाडे को न्यायसंगत और सही सिद्ध कर दिया तो ऐंग्लो इंडियन प्रेस ने उनके विरुद्ध बातें बनाना बन्द कर दिया।

रानडे तीन महीने बम्बई में रहे। वहां भण्डारकर, तैलंग और फीरोजशाह मेहता आदि उनकी मित्रमंडली में थे। उनकी तरह ही वे लोग भी बड़े बुद्धिमान और चतुर थे, और राष्ट्र के उत्थान की उन्हें सदा चिन्ता रहती थी। सन् 1870 में विधवा-विवाह के लिए जो संघर्ष उन्होंने किया उसमें अग्रणी मित्र विष्णु शास्त्री पंडित का अभाव उन्हें बहुत खला। पंडित अन्त तक अपने आदर्शों पर डटे रहे थे और स्वयं एक विधवा स्त्री से विवाह करके जनता के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत किया था। लेकिन सन 1876 में वह बीमार पड़े और उनकी मृत्यु हो गई। बम्बई में प्रार्थना समाज के कार्यकर्ताओं ने संगत सभा नाम की एक अध्ययन मंडली बनाई थी जो ईश्वर और धर्म के विषय में विचार विमर्श करती और उसकी समस्याएं सुलझाती थी। जब वाद-विवाद होते तो रानडे और भडारकर उनमें प्रमुख भाग लेते थे। 'पाप की परिभाषा और उसका दण्ड' भी एक विषय था जिस पर उस सभा में वाद-विवाद हुआ। रानडे ने कहा, "मेरे विचार से स्वर्ग और नरक दोनों इसी संसार में हैं, जब हमारे अच्छे और पुण्य कर्मों की सभी लोग एक स्वर से प्रशंसा करते हैं और उससे जो सुख होता है, वही स्वर्ग है। और जब किसी कारणवश मन बहुत दुखी होता है और हमें अहसास होता है कि यह केवल हमारे पापों का ही फल है, और उस पाप से छुटकारा पाने का न हमारे पास कोई उपाय है और न शक्ति है, मन और

मस्तिष्क की उसी दुख की स्थिति का नाम नरक है।" रानडे की स्वर्ग और नरक की इन परिभाषाओं से मालूम होता है कि वह पुरानी धारणाओं का नई और विवेकपूर्ण विचारधाराओं के साथ सामंजस्य करने के लिए कितने उत्सुक थे। स्वर्ग और नरक तो अवश्य हैं लेकिन वह कोई अलौकिक चीजें नहीं हैं। जब रानडे बम्बई में थे तो वह दो विधवा-विवाहों में गए और उन्होंने विधवा-विवाह प्रोत्साहन सोसायटी के वार्षिक समारोह में भी भाग लिया। उन्होंने वक्तृता प्रोत्साहन सोसायटी के वार्षिक समारोह की अध्यक्षता की और अपने भाषण में मराठी भाषा में पुस्तकें लिखने में प्रगति न होने की कड़े शब्दों में निन्दा की।

संगत सभा की एक मीटिंग में सदाशिवराव केलकर ने जो प्रार्थना-समाज का कट्टर अनुयायी और उसके आदर्शों के लिए पक्का कार्यकर्ता था, यह पूछे जाने पर कि क्या ईश्वरीय मार्ग ग्रहण करते समय आवश्यकता पड़ने पर अपने माता-पिता का भी त्याग कर देना चाहिए ? उत्तर दिया था, "अवश्य।" लेकिन रानडे ने उसके कथन में सुधार किया। उन्होंने कहा, "माता-पिता को इस प्रकार त्याग देना कोई आसान काम नही है। इसके अतिरिक्त हम जिस बात को ठीक समझते हैं उसी पर अड़े रह कर उनको कष्ट पहुंचाने की हमें कोई आवश्यकता नही है। जिस प्रकार कुछ धारणाओं ने हमारे मन और मस्तिष्क को पकड़ रखा है, उसी प्रकार हमारे बुजुर्गों की भी कुछ धारणाएं हैं जो उतनी ही पक्की हैं जितनी हमारी। कौन-सा ऐसा नैतिक अधिकार हमें है जिसके अनुसार हम इतना हठ करें। हमें अपने माता-पिता को अपने विचारों को मानने के लिए राजी करने की कोशिश करनी चाहिए और फिर हम दोनों को एक जैसे विचारों को मानते हुए एक ही रास्ते पर अग्रसर होना चाहिए। उदाहरण

के लिए यदि कोई कानून अन्यायपूर्ण है तो उसका विरोध करने के लिए उसे तोड़ना व्यर्थ है। उसे बदलने के लिए दूसरे लोगों को मनाना चाहिए और जब बहुत-से लोग साथ हो जाएंगे तो कानून स्वतः टूट जाएगा या फिर उसमें परिवर्तन कर दिया जाएगा।" पारिवारिक जीवन और राजनीति दोनों में ही रानडे के कार्य का यही दर्शन था।

अध्याय 9

सरकारी पद से सार्वजनिक कार्य

(1881–1893)

सन् 1880 में जब रानडे की सेशन्स जज के रूप में पदोन्नति का अवसर आया और उनकी उपेक्षा कर दी गई, तब बम्बई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर माइकेल वेस्ट्राप ने उन्हे एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा कि आपके लेखों के कारण ही आपकी पदोन्नति नही हो पाती है। यदि आप अपनी पदोन्नति करवाना चाहते हैं तो लिखना बन्द कर दीजिए। रानडे ने उनके सहानुभूति और मित्रतापूर्ण पत्र का बड़ी कृतज्ञता से धन्यवाद किया और उत्तर में लिखा कि मेरी आवश्यकताएं तो बहुत सीमित हैं। इस समय जो भी तनख्वाह मुझे मिल रही है मैं उसी के अन्दर अपनी जरूरतें पूरी करके अपना काम चला सकता हूं। यह बात नही है कि मुझे अपनी उन्नति अच्छी नही लगती। फड़के के विद्रोह के समय जब सरकार ने उन्हें भी विद्रोहियों के साथ समझ कर उनका तबादला पूणे से नासिक करके अपनी नाराजगी जाहिर की तो उस समय बड़ोदा स्टेट ने उनकी तनख्वाह से कहीं अधिक तनख्वाह देकर उन्हें अपने यहां काम करने का निमंत्रण दिया था। उन्होंने उस प्रस्ताव पर स्वयं भी विचार किया और चीफ जस्टिस और गवर्नर को चिट्ठियां लिख कर उनकी राय मांगी। उन्होंने यह भी लिखा कि मै इस प्रस्ताव पर केवल इसलिए विचार कर रहा हूं क्योंकि मै समझता हूं कि नासिक और पूणे के मेरे तबादले का मतलब यही है कि मुझे ब्रिटिश भारतीय सेवा में कभी पदोन्नति

नही मिलेगी। लेकिन वह देश की सेवा करना चाहते थे और यह नहीं चाहते थे कि पदोन्नति के कारण देश सेवा से वंचित रह जाएं। वह अपने सरकारी कार्य को केवल अपना कर्त्तव्य ही नहीं समझते थे बल्कि उससे कहीं अधिक समझते थे। वह अपने पद को सार्वजनिक कार्य का एक माध्यम समझते थे। जब डकेन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ ऐक्ट के अन्तर्गत असिस्टेंट (स्पेशल) जज की हैसियत से वह दौरे पर जाते थे तो अन्य लोगों की भांति केवल ताल्लुकों में ही नहीं रुकते थे, बल्कि वह उन सभी गांवों में जाते थे जहां समझौता करवाने वाले लोग होते थे। ऐसा करने में उन्हें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। कई-कई दिन तक उन्हें दूध और सब्जियां खाने को नहीं मिलती थीं। बैलों और घोड़ों को चारा भी नहीं मिलता था और न अच्छा साफ पानी ही पीने को मिलता था। लेकिन वह देश-सेवा में लगे हुए थे और इसलिए इन सब बातों की चिन्ता नहीं करते थे। एक बार उनकी पत्नी ने क्लर्कों को आपस में बातें करते हुए सुना था कि पहले वाले अफसर तो कभी भी गांवों में जा-जाकर सब बातों का पता लगाने को जरूरी नहीं समझते थे, लेकिन यह तो सभी जगह जाते हैं। उन्होंने यह बात रानडे को बताई। रानडे ने कहा, "सरकार ने हमें यहां पिकनिक करने के लिए नहीं भेजा है कि हम यहां आकर मौज करें और फिर भत्ता वसूल करें। यदि मैं तालुकों में ही रुक जाऊं और अन्य लोगों को गांवों के रिकार्ड प्राप्त करने के लिए भेजूं तो चालाक लोग गांववालों से अनुचित लाभ उठाएंगे। वह जांच-पड़ताल करने वाले अफसरों को गांव की असली हालत न बतला कर उन्हें भ्रम में डाल देंगे। सरकार चाहती है कि किसानों की असली हालत, उनकी समस्याओं और उनकी कठिनाइयों के विषय में उसे पूरी और असली जानकारी

मिले। जब मैं गांवों में जाता हूं तो वहां के बड़े-बूढ़ों से सब तरह की बातें करता हूं और उनकी असली हालत का पता लगा लेता हूं।" सन् 1881 से 1893 तक रानडे ने कई पदों पर काम किया। सन् 1881 में जज की हैसियत से "एग्रीकल्चुरल रिलीफ ऐक्ट के अन्तर्गत मुकदमों का पर्यवेक्षण किया। सन् 1885 में वह बम्बई विधान परिषद के विधि सदस्य रहे और सन् 1886 में भारत सरकार की वित्त समिति के सदस्य रहे। ये सब कार्य उनकी रोजमर्रा की कार्य प्रणाली के अन्तर्गत नहीं आते थे। उनके लिए उन्हें अलग से ही, स्वतन्त्र रूप से सोचना पड़ता था। अपने इन सब कर्तव्यों के कारण सरकारी पद पर रहते हुए स्वैच्छिक रूप से राष्ट्र सेवा करने का सुयोग भी उन्हें प्राप्त होता था।

सन् 1875 में दक्षिण के कुछ इलाकों में विद्रोह की आग भड़क उठी। उसी के परिणामस्वरूप सन् 1879 में 'दक्षिण कृषक राहत ऐक्ट' बना। उसी विद्रोह के अन्तर्गत दलित कर्जदारों ने अपने महाजनों के विरुद्ध प्रचण्ड और तीक्ष्ण आवाज उठाई। यह ऐक्ट इस तरह बनाया गया था कि धनी और धूर्त महाजनों द्वारा अशिक्षित और गरीब किसानों को दमन और शोषण से बचाया जा सके और साथ ही महाजन को अपने व्यापार को चलाने के लिए उचित स्वतन्त्रता रहे। (ऐक्ट के आमुख में केवल इतना कहा गया था कि कृषक वर्ग को ऋण से छुटकारा दिलवाने के लिए ही यह ऐक्ट बनाया गया है)। इस ऐक्ट में मध्यस्थों के ऐसे अनौपचारिक न्यायालयों का भी विधान था जहां छोटी-छोटी रकमों का फैसला सही और मित्रतापूर्ण तरीकों से किया जाता था। वे न्यायालय ब्याज की बढ़ी-चढ़ी दरों को कम करके इकरारनामों में संशोधन भी कर सकते थे। उस समय के प्रचलित कानून की कठोरता से किसान को राहत दिलवाने की भी व्यवस्था थी।

मध्यस्थों का निरीक्षण अधीनस्थ (सबॉर्डिनेट) जज करते थे और अधीनस्थ जजों का निरीक्षण डिस्ट्रिक्ट या विशिष्ट जज करते थे। अधीनस्थ जजों के काम का निरीक्षण जो स्पेशल जज करता था, उसकी सहायता के लिए सहायक जज होते थे। रानडे इसी सहायक ज़ज के पद पर नियुक्त हुए थे। जबसे दक्षिण में विद्रोह हुये थे तभी से रानडे को अपने इस पद से लगाव हो गया था क्योंकि इसी पद पर रहते हुए उन्होंने सार्वजनिक सभा के माध्यम से किसानों की ऋण-ग्रस्तता की पूरी व्याख्या छपवाई थी। किसानों के ऊपर महाजनों के अन्याय के कारण रानडे को किसानों से बहुत सहानुभूति थी और वह उनकी ज्यादतियों से किसानों को छुटकारा दिलवाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त वह कहते थे कि उनके ऊपर भू-राजस्व का जो बड़ा भारी-बोझ है। वह भी कम होना चाहिए। जज की हैसियत से जब मध्यस्थ न्यायालयों का निरीक्षण रानडे करते थे तब उन्हें किसानों की सेवा करने का मौका मिला उनको विद्रोह के समय से ही उनके साथ सहानुभूति हो गई थी।

इस काम में पूरी समस्या की विस्तृत जानकारी और निष्पक्ष न्याय की आवश्यकता थी। इसके बिना वह ऐक्ट निरर्थक था। ऐक्ट को एक तरफा विधान इकरारनामों को नष्ट करने वाला और गरीब प्रजा और किसानों का अनुचित और अन्यायपूर्ण पक्ष का समर्थन करने वाला कहकर उसकी निन्दा की जाती थी। रानडे ने मध्यस्थ व्यवस्था का निरीक्षण सन् 1881 से 1893 तक बारह वर्ष तक किया। पहले स्पेशल सब-जज की हैसियत से और फिर सन् 1885 से स्पेशल जज की हैसियत से। इस व्यवस्था से जितनी सफलता मिली वह सब रानडे के परिश्रम के ही कारण मिली। किसानों और साहूकारों के साथ उन्होंने उचित न्याय किया। अपने विस्तृत अधिकारों का प्रयोग बड़ी बुद्धिमानी से किया और सब-जजों के ऊपर अपने

संशोधनात्मक अधिकार को अच्छी तरह निभाया। उनका काम सदा बहुत ब्योरेवार और सर्वाङ्गीण होता था। वह समस्या के हर पहलू को पूरी तरह परखते थे और रिकार्ड में जो भी प्रमाण होते उनकी बड़ी सावधानी से, छोटी से छोटी बात को ध्यान में रखते हुए अपना निर्णय देते थे। रानडे ने उस क्षेत्र मे रहने वालों की ठोस सेवा की।

रानडे ने जिस परिश्रम से काम किया उसकी सबने प्रशंसा की। ए. जे. पोलन ने, जो स्पेशल जज था और ऐग्रीकल्चर रिलीफ ऐक्ट के अन्तर्गत मुकदमों का फैसला करता था तथा जो रानडे से ऊंचे पद पर था, लिखा था कि रानडे शरीफ आदमी हैं, बात को बहुत जल्दी समझते हैं तथा उनकी निरीक्षण शक्ति इतनी सूक्ष्म और व्यापक है कि उनकी राय में वजन होता है। उन्होंने यह भी कहा कि रानडे में स्वाभाविक सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति तो है ही, इसके अतिरिक्त वह प्रत्येक प्रश्न को बहुत विस्तृत रूप से जानने और समझने की कोशिश करते हैं। ऐक्ट के आलोचकों से रानडे ने कहा कि ऐक्ट बिल्कुल ठीक है, उसे जारी रहना चाहिए और उसका प्रचार और प्रसार होना चाहिये। लोगों का कहना था कि मध्यस्थता करने वाले एक तो अनपढ़ हैं और दूसरे उन्हें कानून का कोई ज्ञान नही है। रानडे ने इसके उत्तर में कहा कि चाहे वे पढ़े-लिखे न भी हों, फिर भी उनके अन्दर सामान्य ज्ञान तो है ही। इसके अतिरिक्त स्थानीय होने के कारण वहां जिन लोगों के झगड़े और मुकदमे चलते हैं, उन्हें वे अच्छी तरह जानते-पहचानते हैं।

'दक्षिण कृषक राहत ऐक्ट' में थोड़ा संशोधन करके, बम्बई प्रेसीडेंसी के अन्य कई जिलों में भी लागू किया गया। ऐक्ट के अनुसार भूमि साहूकारों को हस्तान्तरित नहीं की जा सकती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भारत के अनेक भागों में ऐसे कानून बन गए, जिनके अनुसार किसान को अपनी भूमि हस्तान्तरित करने

का अधिकार नहीं था। रानडे जैसे जजों की योग्यता के कारण ही ऐक्ट को लागू करने में इतनी जल्दी सफलता मिली। बाद में मालूम हुआ कि ऐक्ट में क्या कमियां थीं और उससे क्या हानियां होती थीं। फिर किसानों की दशा सुधारने के लिए अन्य उपाय भी सोचे और काम में लाए गए।

सन् 1885 में जब रानडे पूणे में स्पेशल जज के पद पर ही काम कर रहे थे, तब बम्बई के गवर्नर लार्ड री ने उन्हें बम्बई विधान परिषद का कानून सदस्य नामांकित कर दिया। यह राजनीतिक परिवर्तन का लक्षण था। सन् 1881 के अन्त तक इंग्लैंड के प्रधान मंत्री लार्ड बेकन फील्ड डिजरायली, भारत के वाइसराय लार्ड लिटन और बम्बई के गवर्नर सर रिचार्ड टेम्पिल के रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी शासन का अन्त हो गया था और एक नया लिबरल (उदार) मंत्रिमंडल सत्ता में आ गया था, जिसका प्रधान मंत्री ग्लैड्स्टन था। लार्ड रिपन को जो उदारवादी विचारों का था, वाइसराय बनाया गया। अब तक यह एक पक्की परम्परा थी कि केवल आई० सी० एस० अंग्रेज को ही कानून सदस्य बनाया जाता था। परन्तु उस पद पर रानडे की नियुक्ति से वह परम्परा टूट गई। इससे ऐंग्लो इंडियनों को बड़ी खीझ हुई। यह पद संसदीय सरकार के कानून मंत्री की भांति तो नहीं था, फिर भी काफी महत्वपूर्ण था। प्रान्तीय विधान परिषद में बहुत कम सदस्य थे। उन सबका नामांकन प्रेसीडेंसी का गवर्नर करता था और गवर्नर जनरल की स्वीकृति के बिना कोई कानून नहीं बनाया जा सकता था। केवल सपरिषद गवर्नर जनरल द्वारा ही महत्वपूर्ण कानून बनाए जाते थे। लेकिन जहां तक बम्बई प्रेसीडेंसी का सम्बन्ध था, बम्बई विधान परिषद के कानून सदस्य की स्थिति भी बहुत अच्छी और महत्वपूर्ण थी। गवर्नर ने जब रानडे को कानून सदस्य का पद प्रदान

किया तो लिखा कि जन कल्याण के काम में उनके उत्साह और ज्ञान के कारण सरकार को बहुत लाभ होगा इसलिए परिषद में उनकी उपस्थिति आवश्यक है। सन् 1890 में और फिर 1893 में रानडे फिर परिषद के कानून सदस्य बनाए गए।

बम्बई विधान परिषद में प्रवेश करने से एक दिन पहले, मई 1885 में रानडे ने 'परिषद के कर्तव्य' विषय पर पूणे में एक सार्वजनिक भाषण दिया। केवल तीन ही वर्ष पहले गवर्नर जनरल लार्ड रिपन के कहने से सरकार ने स्थानीय स्वशासन के पक्ष में एक प्रस्ताव पास किया था। उसके अनुसार प्रान्तीय सरकारों का कर्त्तव्य था कि वे पूरे देश में स्थानीय बोर्डों (मंडलों) का जाल बिछा दें जिन्हें निश्चित धनराशि और निश्चित कर्त्तव्य सौंपे जाएं और उन मंडलों के दो तिहाई सदस्य गैर-सरकारी हों। यह परामर्श भी दिया गया कि उन्हें निर्वाचन के आधार पर चुनना चाहिए और स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुए ये चुनाव जितने अधिक विस्तृत हों उतने ही अच्छे हैं। इसलिए इस प्रस्तावित नीति को कार्यान्वित करने के लिए विभिन्न प्रान्तों में ऐक्ट पास किए गए। अपने 'परिषद के कर्त्तव्य' विषयक भाषण में रानडे ने नवस्थापित स्थानीय मंडलों का भी जिक्र किया। उन्होंने कहा कि जो अधिकार लार्ड रिपन ने हमें छोटे पैमाने पर दिए हैं, उनमें यदि सफलता मिले तो बड़े पैमाने पर भी अधिकार मिलने चाहिए। यदि निर्वाचित सदस्य स्थानीय मंडलों में सफलता से कार्य करते हैं तो कार्य विधान परिषदों में भी कुछ सदस्य चुने जाने चाहिए। इस समय जो नामांकित सदस्य हैं, उनके विरुद्ध मुझे कुछ नहीं कहना है। वे निर्वाचित सदस्यों की भांति ही अच्छा काम कर रहे हैं। लेकिन यदि वे जनता द्वारा निर्वाचित होकर आते तो उन्हें अपने उत्तरदायित्व का अधिक ख्याल होता। उन्हें जनता के विचारों और समर्थन की जानकारी

रहती और वे और भी अधिक विश्वास और भरोसे से बोल सकते और कार्य कर सकते। इसलिए हमें विधान परिषदों में सदस्यों को निर्वाचन के आधार पर ही लेने पर जोर देना चाहिए।

जिस स्वतन्त्रता से रानडे परिषद में काम करते थे, उससे मालूम होता था कि वह निर्वाचित सदस्य हैं, नामांकित नहीं। लेकिन सरकारी नौकर होने के कारण उनके ऊपर थोड़ा-सा बन्धन अवश्य था। वह अपने से ऊंचे अफसरों के विचारों की कटु और जोरदार आलोचना नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने परिषद के कुछ निर्भीक गैर सरकारी सदस्यों द्वारा अपने विचार प्रस्तुत करवाए। जिन्होंने स्पष्ट रूप से सारी बातें परिषद में कहीं। वतनदार ऐक्ट में संशोधन करने के लिए बिल पास करने का प्रश्न था, जिसे हम उदाहरण के तौर पर ले सकते हैं। सरकारी अफसरों द्वारा प्रस्तावित इस बिल में वतनदारों के अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे अधिकारों पर प्रहार किया गया था। रानडे इस बिल की प्रवर समिति में थे। उन्होंने एक आलोचनात्मक नोट लिखा और संशोधन के लिए समिति में अपने सुझाव प्रस्तुत किए। रानाडे ने सार्वजनिक सभा जनरल में भी अपना एक विस्तृत लेख लिखा और समिति के एक गैर सरकारी सदस्य से उसके विवादास्पद प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट करने के लिए कहा।

सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में सरकार की आय और व्यय का अध्ययन करने और बचत एवं कटौती के उपाय सुझाने के लिए सन् 1886 में रानडे को भारत सरकार की वित्त समिति का सदस्य नियुक्त किया गया। बम्बई विधान परिषद की सदस्यता के अतिरिक्त उन्हें यह श्रेणी और पद प्रदान किया गया था। लेकिन पूणे के स्पेशल जज के रूप में उन्हें काम बन्द कर देना पड़ा। वित्त समिति के सदस्य के रूप में रानडे शिमला, कलकत्ता, मद्रास तथा अन्य कई जगहों

पर गए। उन्होंने किस प्रकार काम किया, यह उनके अपने एक अभिन्न मित्र और अर्थशास्त्री राव बहादुर जी० वी० जोशी को लिखे गए उनके एक पत्र से हमें ज्ञात होता है। रानडे ने कहा, "मैं समिति से अपने सम्बन्ध को विशेष रूप से इसलिए महत्व देता हूँ क्योंकि इसके द्वारा मुझे बड़े-बड़े प्रश्नों के विषय में अनेक बातें विस्तार से मालूम हो जाती हैं। मुझे ऐसे-ऐसे कागज पढ़ने को मिलते हैं जो मैं समिति में न होता तो मुझे कभी प्राप्त नहीं हो सकते थे। मैं जिस विषय को भी हाथ में लेता हूं उसी के लिए विस्तृत अध्ययन करने की आवश्यकता होती है। मैं स्वतन्त्रता से नोट्स बनाता हूं। इन नोटों से तब लाभ उठाता हूं जब इन्हें औपचारिक सरकारी नोट का रूप देकर या तो समिति को या उसके प्रमुख सदस्यों को संशोधन के लिए देता हूं।" रानडे ने कई बार समिति की रिपोर्ट से असहमति प्रकट की, उन्होंने सब-जजों की संख्या में प्रस्तावित कटौती तथा उनका वेतनमान कम करने का विरोध भी किया। उन्होंने शिक्षा विभाग में भी कर्मचारियों की संख्या में कमी करने का विरोध किया। समिति ने लगभग एक वर्ष तक काम किया। इसके बाद रानडे पूणे में अपने स्पेशल जज के पद पर वापिस चले गए। वित्त समिति में उनके काम को मान्यता देने के लिए सरकार ने सन् 1887 में उन्हें सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान की।

सरकारी पद से की गई सार्वजनिक सेवा तथा स्वतन्त्र रूप से की गई सार्वजनिक सेवा को अलग-अलग करना कोई आसान काम नहीं है। सरकारी पद पर होने से मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है और वहां रहते हुए जनता की सेवा करने में आसानी होती है। रानडे ने पूणे में जज की हैसियत से बाईस वर्ष (1871 से 1893) तक काम किया। इस दौरान पूणे में राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्रों में जो भी काम हुए, उन सबमें रानडे का हाथ था।

सभी कार्य कलापों में उन्होंने ही प्रोत्साहन दिया था। जो भी संस्थाएं और आन्दोलन शहर में उनके कार्यकाल में आरम्भ हुए, उनके आरंभ, प्रगति, विकास या उन्नति का सारा श्रेय उन्हीं को था। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने सार्वजनिक सभा की स्थापना की और उसकी त्रैमासिक पत्रिका चलाई। सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र में पूणे के गर्मी के मौसम के भाषण, वक्तृता प्रोत्साहन एसोसियेशन, हीराबाग का टाउनहाल, पूणे नेटिव जनरल लाइब्रेरी की इमारत, वर्नाक्यूलर अनुवाद सोसाइटी और वर्नाक्युलर साहित्यिक प्रोत्साहन एसोसियेशन थे। शिक्षा के क्षेत्र में फर्गुसन कालेज और फीमेल हाई स्कूल थे। न्यायिक क्षेत्र में लावाड या आवट्रेशन कोर्ट और सब-जजों की कांफ्रेंस थी। औद्योगिक क्षेत्र में औद्योगिक कांफ्रेंसें, औद्योगिक नुमाइशें, री म्युजियम, सूती और रेशमी कताई और बुनाई कम्पनी, री पेपर मिल, धातु उत्पादन फैक्टरी, पूना मरकेन्टाइल बैंक, पूणे रंगाई कम्पनी और औद्योगिक एसोसियेशन थे। धार्मिक क्षेत्र में प्रार्थना समाज और उसका मन्दिर था। पिछली शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में इन सभी कार्यकलापों की संकल्पना नई मालूम होती थी। यहां तक कि भावी प्रबुद्ध भारत की झलक से प्रेरित वक्तृता प्रोत्साहन संस्था (एसोसियेशन) भी एक नई चीज थी। पेपर मिल तथा धातु उत्पादन फैक्टरी आदि औद्योगिक संस्थाएं भी अपनी तरह की पहली ही संस्थाएं थीं और औद्योगिक रूप से विकसित एवं समृद्ध भारत के महान स्वप्न को साकार करने के सबसे प्रथम प्रयास थे। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि रानडे ने विभिन्न प्रकार की जो संस्थाएं आरंभ कीं और उनको प्रोत्साहन दिया, उनमें नए युग की छाप थी और उनके अल्पविकसित रूप में हमें आधुनिक भारत की विशिष्टताएं दिखाई देती

हैं। उनसे हमें स्पष्ट संकेत मिलता है कि सैनिक और राजनीतिक पराजय से भारतीय समाज की आत्मा नही मरी थी। बल्कि उनमें हमें नए प्रकार के ऐसे सामाजिक कार्यकलापों के दर्शन होते हैं जिनके द्वारा ही देश अपने खोए हुए प्राचीन गौरव को फिर से प्राप्त करने में सफल हुआ है।

अध्याय 10

पारिवारिक जीवन

यदि कभी किसी ऊंची जाति के हिन्दू परिवार का कोई सदस्य अपना धर्म-परिवर्तन करके ईसाई बन जाता था, तो उस परिवार पर मुसीबत आ जाती थी। एक बार ईसाई बनने के बाद वह फिर हिन्दू समाज में वापिस नहीं आ सकता था। दोनों सम्प्रदायों के तौर-तरीकों और रहन-सहन में इतना भारी अन्तर था कि धर्मपरिवर्तित मनुष्य बिलकुल अजनबी जान पड़ता था और यदि किसी रूढ़िवादी हिन्दू परिवार का व्यक्ति समाज-सुधारक बन जाता था, तो भी उस परिवार पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ता था। रूढ़िवादी लोग समझते थे कि समाज-सुधारक अपना धर्म छोड़ कर ईसाई धर्म अपनाने के रास्ते पर अग्रसर हो चला है। समाज-सुधारक के लिए बस एक ही आशा की किरण दिखाई देती थी कि वह फिर से रूढ़िवादी हिन्दू बन सकता था। लेकिन चाहे कुछ भी कहें, यह विपत्तिकारक तो था ही।

इतना होते हुए भी गणेश हरि साठे नामक एक सनातनी महाशय जब अपनी मृत्यु शय्या पर पड़े थे तब उन्होंने अपने इकलौते बेटे महादेव को रानडे के हाथों में सौंप दिया। वैचारिक मतभेदों के बावजूद रानडे उनके घनिष्ट मित्रों में थे। रिश्तेदारों ने बच्चे का हाथ रानाडे के हाथ में थमाने से उन्हें रोका। सुधारक के रूप में बच्चे के लालन-पालन की कल्पना ही थर्राने वाली थी। लेकिन साठे को पूरा विश्वास था कि रानडे उनके सिद्धान्तों का आदर करेंगे और महादेव को सनातनी ढंग से ही पालेंगे। पिता की मृत्यु के बाद

महादेव साठे, रानडे के घर आकर उनके परिवार के एक सदस्य के रूप में रहने लगा। अपने दिवंगत मित्र की इच्छा के अनुसार रानडे ने उसका पालन-पोषण रूढिवादी हिन्दू नियमों के अनुसार ही किया और इसी शिक्षा के लिए उसे वेदशास्त्रोत्तेजक सभा में भेज दिया। एक बार जब पूरा परिवार महाबलेश्वर में था, तभी प्लेग की बीमारी फैली। तुरन्त ही परिवार को वहां से सुरक्षित स्थान पर ले जाने की पूरी व्यवस्था की गई। लेकिन जाने से कुछ देर पहले ही साठे को प्लेग ने आ घेरा। उस समय बच्चे की देखभाल करने के लिए कोई रिश्तेदार या कोई और आश्रित उसके पास रुक सकता था। लेकिन रानडे ने कहा, "बच्चे की देखभाल तो मैं ही करूंगा। मेरे दोस्त ने बच्चे को मुझे इसलिए नहीं सौंपा था कि मैं कष्ट के समय उसे अकेला छोड़ कर चला जाऊं।" सौभाग्य से लड़का अच्छा हो गया और रानडे भी प्लेग से बचे रहे। घर में लगभग 30 व्यक्ति रहते थे। रानडे लड़के की देखभाल व्यक्तिगत रूप से स्वयं ही करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ऐसा तरीका सोच लिया था जिससे वह उससे दिन में एक बार अवश्य मिल सकें। उन्होंने लड़के से कहा कि जिस समय मैं तैयार हो कर कचहरी जाता हूं, उस समय तुम रोज आकर मेरे जूतों के तस्मे बांधा करो। लड़का यह देख कर बहुत प्रसन्न हुआ कि केवल उसे ही यह विशेषाधिकार दिया गया है।*

रानडे का परिवार एक संस्था के रूप में था। उसके सदस्यों में वह स्वयं, उनकी पत्नी, दो भाई, आठ-दस स्त्रियां और चार-पांच गरीब विद्यार्थी थे और जैसा कि उस समय का रिवाज था, दूर

---

* यह बात रानडे के आश्रित महादेव साठे के पुत्र वी. एम. साठे ने बतलाई, जो रानडे के घर के सामने ही साठे के बाड़े में रहता था।

के गाव में रहने वाले कुछ रिश्तेदारों के लड़के थे, जो वहां पढ़ने के लिए आए थे, नौकर-चाकर भी, जिनमें स्त्रियां भी थीं और पुरुष भी, घर में ही रहते थे। इस प्रकार घर में 30-40 व्यक्ति थे। कुछ लोगों का कहना है कि इससे भी अधिक लोग उनके परिवार में थे। घर के अन्दर का सारा प्रवन्ध स्त्रियों के हाथों में था। उनमें केवल रानडे की पत्नी का व्यक्तित्व गौण था। रानडे की विधवा वहन दुर्गा, जिसे घर में अक्का कहते थे, सवसे अधिक प्रभुत्व जताती थीं। उन्ही के हाथ में घर का सारा प्रवन्ध था। सभी स्त्रियों में वही सवसे होशियार थी, लेकिन थी वहुत जिद्दी और रूढ़िवादी विचारों की। वह वड़े तेज स्वभाव की थीं और उन्हें इस वात की कभी परवाह नही होती थी कि उनकी जिद के कारण दूसरों को या उसे स्वयं भी कितनी तकलीफ होती होगी। रानडे की सौतेली मां (माई) और ताई का स्थान भी गौण था। लेकिन ताई उनमें सवसे वड़ी थीं और रानाडे उन्हें विलकुल अपनी मां की तरह मानते थे, क्योंकि उनकी मा की मृत्यु के वाद दो-तीन महीने तक उन्होने ही उनको पाला था। वह चाहे कुछ भी कह लेती थीं पर रानडे उलट कर उन्हें जवाव नही देते थे। रानडे के इस मृदु व्यवहार के कारण उनका गुस्सा आसमान पर पहुंच जाता था और वह बुरी-भली सव कुछ कहती चली जाती थीं। लेकिन जव एक वार गुस्सा शान्त हो जाता था तव पहले की सव वातें भूल भी जाती थी। कई वार दुर्गावाई भी लगाई-वुझाई करके भूस में आग लगा देती थी और तव ताई और भी जोर-जोर से दूसरों को डांटने-फटकारने लगती थी। जो गरीव विद्यार्थी वहां रहते थे, वे घर की महिलाओं के कहने के अनुसार सब्जी लाना, हिसाव करना, खाद्य सामग्री लाना आदि ऐसे ही अन्य कई काम अपनी पढ़ाई समाप्त करने के बाद किया करते थे। रानडे ने स्पष्ट रूप से कह

रखा था कि हिसाब रोज नियमित रूप से लिखा जाना चाहिए और कोई चीज उधार घर में नहीं लाई जानी चाहिए। सारे बिलों और नौकरों की तनख्वाहों का भुगतान महीने के अन्त में होता था।

परिवार के लोगों को अच्छी तरह आराम से रहने की आदत थी। उनकी परम्परा भी यही थी। रानडे के पिता अपने रिश्तेदारों के प्रति उदार थे और दिल खोल कर खर्चा करते थे। यही परम्परा अब भी कायम थी। खाने-पीने में कोई कमी नहीं की जाती थी। यदि दोपहर का खाना देर से होता तो सुबह नाश्ता होता था। दिन में दो भरपूर खाने होते थे जिनमें उच्च मध्यवर्गीय परिवार के खाने योग्य सभी व्यंजन होते थे। तीसरे पहर नाश्ते में भी दो-तीन तरह की चीजें होती थी। आमतौर से ऐसा ही खाना रोज बनता था। दोपहर के खाने के बाद और तीसरे पहर रानडे ताजे फल और मेवा खाया करते थे। जब रानडे दौरे पर जाते थे तब अपने साथ बहुत से लोगो को ले जाया करते थे, जिससे रास्ते में कोई तकलीफ न हो। उनके साथ पांच-छह अरदली, पांच-छह क्लर्क, रिश्तेदार, दो रसोइये अतिरिक्त कामों के लिए, एक ब्राह्मण, एक नौकरानी, एक सईस, कई कुली और कई गाड़ीवान इस प्रकार लगभग पैंतीस-चालीस आदमी और उनके अतिरिक्त अपना व्यक्तिगत सामान ले जाने के लिए सात बैलगाड़ियां, दो तम्बू और एक घोड़ा गाड़ी जाया करते थे। खाना खाने से पहले रानडे यह निश्चय कर लेते थे कि उनके साथ जितने लोग आए हैं उन लोगों ने खा लिया है या नही। यदि कभी संयोग से किसी ने खाना नहीं खाया होता था तो वह अपने खाने या नाश्ते में से ही उसे भी खिला लेते थे।

खाने-पीने के मामले में तथा वैसे भी रहन-सहन के उनके ऊंचे स्तर को देख कर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि रानडे आराम तलब थे। वह अपने जमाने के अपनी बराबरी के लोगों की तरह ही रह कर परम्परा का पालन कर रहे थे। उन्हें महीने में 800 रुपये तनख्वाह मिलती थी। जहां तक उनके अपने रहन-सहन के तौर-तरीकों का सवाल था, वह बहुत सादगी का जीवन व्यतीत करते थे। एक महाशय ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है: "जब मैं उनसे मिलने के लिए पूना में उनके घर गया तो मैंने देखा कि वह जमीन पर चटाई बिछाये पालथी मारे बैठे हैं। उनकी जांघ पर कुछ कागज थे और वह किलिक (सरकंडे) के कलम से अंग्रेजी में कुछ लिख रहे थे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे अन्य लोगों की भांति न तो उन्हें मेज और कुर्सी की ही जरूरत थी और न निब लगे हुए होल्डर की ही।" उनसे जब पूछा गया कि इस प्रकार लिखने में आपको कुछ असुविधा तो नहीं होती, तो उन्होंने उत्तर दिया—"नही, मुझे तो आदत है इसी प्रकार बैठ कर काम करने की।" 'सम्मतिवय आन्दोलन' के सूत्रधार मालाबारी ने देखा कि वह जमीन पर बैठे हैं और चौकी पर रख कर कुछ लिख रहे हैं, बीच-बीच में तुकाराम की कविता की कोई पंक्ति गुनगुनाते जाते हैं और अपने इर्द-गिर्द खेलते हुए बच्चे से कभी-कभी हँसी-मजाक भी करते जाते हैं। पश्चिमी औपचारिकता की रुकावटें उनके मिलने-जुलने में बाधा नहीं डालती थी। कोई भी आकर उनसे मिल सकता था और उनके पास बैठ सकता था। बड़ा-सा तकिया अपने पीछे लगा कर वह अक्सर बड़े से झूले पर बैठा करते थे। उनके पहनने के कपड़े भी पुराने फैशन के थे। वह सिर पर पगड़ी, लम्बा कोट, कन्धे पर दुपट्टा, धोती और देशी जूते पहनते थे। बस एक ही खास आदत उनकी थी कि वह सुंघनी सूंघा करते थे।

समाज सुधार के मामले म रानडे के परिवार में महाराष्ट्र की झलक देखने को मिलती थी । घर का एक छोटा-सा अल्प-संख्यक वर्ग उसका समर्थन करता था। उससे कुछ वड़ा अल्पसंख्यक वर्ग उसका विरोध नही करता था । लेकिन अधिकांश लोग, विशेष रूप से स्त्री वर्ग, उसका विरोधी था । घर मे केवल रानडे और उनकी पत्नी ही समाज सुधारक थे और उनके सौतेले भाई भी उनके समर्थक थे । स्त्री शिक्षा के प्रश्न पर स्त्री वर्ग के वड़े दृढ विचार थे । रानडे अपनी पत्नी को पढ़ाना चाहते थे और उनकी पत्नी पढ़ना भी चाहती थी, पर इस वात को लेकर अनेक प्रकार से उन्हें भला बुरा कहा जाता था । इस वात में रानडे जरा भी पीछे हटने को तैयार न थे, क्योंकि घर के प्रमुख होने के कारण उन्हें यह अधिकार था कि वह जो ठीक समझें वही करें। वह भीतरी सुधार चाहते थे, ऊपरी सुधार में उन्हें विश्वास नही था। वेचारी रमावाई को भी यही शिक्षा मिली थी कि पति की सेवा-पूजा करें, घर की वड़ी-बूढ़ियों का आदर करें और उनकी आज्ञा का पालन करें। उन्हें इन परस्पर विरोधी दोनों निष्ठाओं में से एक को चुनना था । उन्होंने वड़ी बुद्धिमानी से अपने पति का साथ देने को ही अपना कर्त्तव्य समझा । उन्हें अपने पति की श्रेष्ठता और बुद्धिमानी पर पूरा विश्वास था और वह उनके सिद्धान्तों पर चलने को सदा तैयार रहती थी । वह कभी ऐसा काम नहीं करती थीं, जिससे रानडे की भावनाओं को ठेस लगे । उनके मुख से प्रशंसा का एक शब्द सुनने के लिए कितना भी मानसिक कष्ट सहन करने के लिए वह तैयार रहती थी ।

निचली मंजिल पर रमावाई कभी भी पढ़ने का साहस नही कर सकती थीं। वह ऊपर अपने या रानडे के कमरे में ही अपना पढ़ना-लिखना सीमित रखती थीं । रमावाई रोज अपने पति से पढ़ती

थीं। लेकिन वाद की नौकरी में रानडे को दौरे पर जाना पड़ता था, इसलिए वह उन्हें स्वयं नहीं पढ़ा सकते थे। अतः वह एक अंग्रेज अध्यापिका को रमावाई को पढ़ाने के लिए रख कर दौरे पर चले गए। घर की स्त्रियों ने रमावाई से कहा कि तुम उस विदेशी स्त्री को छूती हो और फिर सारे घर में विना नहाए-धोए घूमती हो और सारे घर को अपवित्र कर देती हो। हम तो यह वरदाश्त नहीं कर सकतीं। तुम या तो उससे पढ़ने के वाद दुवारा नहाया करो और नही तो फिर ऊपर अपने कमरे में ही बैठी रहा करो। सारे घर को गन्दा मत करो। तुम्हारा खाना तुम्हारे कमरे में ऊपर ही भेज दिया जाएगा। तुम अव मैडम वनती जा रही हो। हम लोगों के वीच में अव तुम कैसे रह सकती हो? ये वातें सुनकर रमावाई ठंडे पानी से ही स्नान करना शुरू कर दिया। वैसे मराठी स्त्रियों को ठंडे पानी से नहाने की आदत नहीं होती। इस तरह नहाने से वह बीमार पड़ गई। घर की स्त्रियां जव रमावाई का पढ़ना-लिखना, अंग्रेज महिला से अंग्रेजी सीखना, महिला समाज की सभाओं में जाना आदि देखतीं तो उन्हे यह सव सहन नही होता था और वह रमावाई को लक्ष्य करके अप्रत्यक्ष रूप से घृणापूर्ण वातें उनके लिए कहती रहती थीं। जब वह अपनी साप्ताहिक मीटिंग से वापिस आतीं, तो वे कहतीं, "अव तुम रसोई में जा कर खाना परोसने की कोशिश मत करना। जो स्त्रियां वाहर जा कर सभाओं में भाग लेती है, उन्हें ऐसे छोटे कामों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। उन्हें तो वस ऊपर के कमरे में पुरुषों के साथ ही बैठे रहना चाहिए। उनके लिए यही सबसे अच्छा होगा।"

अपने महान आत्मसंयम के द्वारा रमावाई ये सव ताने और यातनाएं सहन करती रही। उन लोगों ने चाहे जितना भी कष्ट उन्हें दिया, लेकिन रमावाई ने हार नहीं मानी। उन्होंने अपनी

पढ़ाई जारी रखी और साथ ही कभी किसी से कोई कठोर शब्द भी नही कहे। "जो भी कुछ मेरे पति मुझसे कहते थे, वह करना मै कभी नहीं भूलती थी। मैं किसी भी कीमत पर अपनी शान्ति और सच्चे आनन्द के एकमात्र स्रोत को हाथ से खो नहीं सकती थी। मैं जानती थी कि केवल एक वही शान्ति का स्रोत यदि मुझे सहारा देता रहगा, मुझे समझता रहेगा, तो परिवार के अन्य लोग मुझे चाहे जितनी भी यन्त्रणा देंगे, उन्हें सहन करने की मुझमें शक्ति आ जाएगी।" वह हमेशा चुपचाप घर की स्त्रियों के कहे कठोर शब्द और ताने सुनती रहती थीं, लेकिन पलट कर कभी न जवाब देती थी और न उनसे बहस ही करती थीं। लेकिन जो भी उनके पति उनसे करने को कहते, वह अवश्य करती, उससे कभी पीछे नही हटती थीं।

रानडे ने रमाबाई की अदम्य सहनशक्ति और अपने लिए अत्यधिक श्रद्धा देखी तो उनकी शिक्षा की योजना आगे बढ़ाने का निश्चय कर लिया। घर के प्रमुख होने के नाते यदि वह चाहते तो जितना भी विरोध परिवार में उनके और उनकी पत्नी के विरुद्ध था, उसे समाप्त करने में उन्हें देर न लगती। रमाबाई कहती हैं, "लेकिन परिवार के मुखिया होने का रौब उन्होंने कभी किसी के ऊपर नहीं गांठा और न कभी मुझसे या घर के किसी अन्य व्यक्ति से यह कहा कि तुम्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।" उदाहरण के लिए एक घटना को ले सकते है। एक बार गवर्नर, सर जेम्स फर्गुसन के सामने नगर में लड़कियों के लिए एक हाई स्कूल खोलने की मांग रखने के लिए हीराबाग पूणे में एक विशाल सभा का आयोजन किया गया। रमाबाई अब तक थोड़ी-थोड़ी अंग्रेजी पढ़ने लगी थीं। अतः उन्हें ही अंग्रेजी में अभिभाषण पढ़ने के लिए कहा गया। यह अभिभाषण

रानडे ने ही लिखा था और अपने कमरे में सात-आठ बार पढ़वा कर उनको अभ्यास करवा दिया था। सार्वजनिक सभा के बाद शाम को अभिभाषण पढ़ने की खबर उनके घर पहुंच गई। फिर क्या था सारे घर मे क्रोध की लहर दौड़ गई और क्रोध भरे शब्दों की बौछारें पड़ने लगी और यह तब तक जारी रही जब तक रानडे घर वापिस आए। उनकी ताई ने उन्हें देख कर कहा कि पति-पत्नी का यह प्रेम अब सीमा पार कर गया है। अब पत्नियों को अपने पतियो के पास गांठें बांध कर बैठना चाहिए। उन्हें मर्दो की तरह ही पढ़ना-लिखना चाहिए। अभी तक तो यह पढ़ना-लिखना केवल घर के अन्दर तक ही सीमित था। लेकिन आज तो हद से बाहर बात हो गई है। क्या तुम्हें शर्म नहीं आई जब तुम्हारी पत्नी ने दो हजार लोगों की उपस्थिति में अंग्रेजी में भाषण पढ़ा? इसी तरह की चिल्लाहट रात के साढ़े नौ बजे तक चलती रही। बाद में जब पति-पत्नी मिले, तब रानडे ने कहा, "आज की यह भर्त्सना कैसी थी? बड़ी जोर की नाराजगी थी। मुझे लगता है कि ये आक्षेप अभी कई दिन और चलेंगे। हमें इन सब बातों को साहस और धैर्य के साथ सहन करने का निश्चय कर लेना चाहिए। हम उन लोगों के क्रोध को और बढ़ाने का कोई काम नही करेंगे। हम उन्हें भी दोष नही दे सकते क्योंकि वह अपने जमाने के विचारों के अनुरूप ही बोलते हैं। बस तुम यही करना कि उनके दिल को दुख [illegible] ।न। और

मुंह से कभी कुछ मत बोलना । लेकिन सदा जो काम ठीक और उचित है वही करती रहना–अपने कर्त्तव्य से मत चूकना ।"

रानडे के दो सौतेले भाई थे जो उनसे बहुत छोटे थे । उनमें से एक का विवाह सन् 1880 में और दूसरे का 1884 में हुआ । इन दोनों विवाहों में समाज सुधार की कोई भी विशिष्टता नही थी । यहां तक कि सुधारकों की शिक्षाओं के विरुद्ध दहेज भी दोनों शादियों में लिए गए। समाचार-पत्रों में इसके लिए रानडे के बारे में आलोचना छपी और उन्हें इसके लिए दोषी ठहराया गया। लेकिन यह समझने पर कि रानडे अपने घर में केवल नाम के ही राजा थे, वह अपनी सलाह तो देते थे लेकिन घर के काम-काज में हस्तक्षेप नही करते थे, हम उन्हें दोष नही दे सकेंगे । लड़कों की शादी में उन्हें अपनी सौतेली मां को खुश रखना था और उन्हीं के कहने के अनुसार सब काम होने थे । सन् 1884 में जब रानडे ने मालाबारी को पत्र लिखा तो स्पष्ट रूप से इसी बात की ओर इंगित करते हुए लिखा, "केवल भगवान ही साक्षी है कि हमारे घर में अपने निकट और प्रिय सम्बन्धियों से ही हमारा हर समय झगड़ा चलता रहता है। हम अपनी तरफ से सब कुछ अच्छा ही करते हैं और करने की कोशिश करते हैं । लेकिन जब हमें तनाव के कारण सम्बन्ध टूटने का डर हो जाता है तो कई बार हमें वही उसी मोड़ पर रुक जाना पड़ता है ।" फिर भी समाज को अधिकार है कि जिसे वह अपना नेता समझता है, उससे आशा करे कि जहां तक सिद्धान्तों का प्रश्न है, उन पर वह दृढ़ रहे । अनेक साहसी और दृढ़ निश्चय वाले लोगों ने अपने सिद्धान्तों के लिए घर की सुख शान्ति का बलिदान कर दिया । हमें रानडे को उनके कार्यो के लिए दोष नहीं देना चाहिए परन्तु निराशा अवश्य प्रकट करनी चाहिए ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रानडे के दो अभिन्न मित्रों और सार्वजनिक सेवा के सहकर्मियों की मृत्यु हो गई। विष्णुशास्त्री पंडित की जो विधवा विवाह के अग्रणी थे, मृत्यु 1876 में और 'जगत काका' जी० डब्लू० जोशी की मृत्यु सन् 1880 में हुई। सन् 1884 में गणित के महान विद्वान प्रोफेसर के० एल० छात्रे का निधन हो गया। उन्होंने पांडित्यपूर्ण कार्य तो किए ही थे, इसके अतिरिक्त वह स्त्री शिक्षा के भी पक्षपाती थे और उस में भी अपना बहुत समय लगाते रहे थे। उनके ऊपर 'ज्ञान प्रकाश' में रानडे ने एक वृहद लेख लिखा। उसमें एक स्थान पर लिखा कि पुरुषों के राजकुमार की मृत्यु हो गई है और 'पूना का गर्व' मिट्टी में मिल गया है। प्रोफेसर और वैज्ञानिक की उनकी भूमिका के लिए राष्ट्र उनका आभारी है। हमारे राष्ट्रीय चरित्र में जो कुछ अच्छा और उत्कृष्ट है, वह उस सबका प्रतिनिधित्व करते थे और उस दृष्टि से जब हम उनकी महानता और सज्जनता पर विचार करते हैं तो हमें लगता है कि हम उनके प्रति जितना भी आभार प्रकट करें उतना ही थोड़ा है।

1891 में एक बार जब रानडे सरकारी दौरे पर थे तब उन्हें हैजा हो गया। करमालेन, जहां वह उस समय थे, रेलवे स्टेशन से लगभग 20 किलोमीटर दूर था और वहाँ से केवल तार द्वारा ही पुणे खबर भेजी जा सकती थी। उनकी पत्नी तो बहुत ही घबरा गईं, लेकिन उन्होंने धैर्य से काम लिया। उन्होंने एक डाक्टर की सहायता से पुणे तार भिजवाया। रानडे के जीवन की कोई आशा नहीं रह गई थी। डाक्टर विश्राम, जो एक कुशल डाक्टर और साथ ही रानडे के मित्र भी थे और तार मिलते ही पुणे से आ गए, उन्होंने पानी में मिला कर कुछ बूंदें ब्राण्डी की उन्हें दीं, जिससे होश आ जाए। लेकिन उस हालत में भी रानडे ने

ब्राण्डी पीने से इंकार कर दिया। लेकिन डा० विश्राम ने कहा, "पुणे जाने से पहले तो आपको यह पी ही लेनी चाहिए। यह मैं केवल इसलिए दे रहा हूं क्योंकि इसकी बहुत जरूरत है।" पुणे जाने पर इसके बदले मैं दूसरी दवा दूंगा। बड़ी अनिच्छा से रानडे ने दवा पी और बड़ी कमजोर और हल्की आवाज में बोले, "राम राम।" यह बड़ा भारी चमत्कार था कि वह बच गए। इस बीमारी से पूर्ण स्वस्थ होने में उन्हें दो महीने लगे।

अध्याय 11

स्त्रियों की शिक्षा

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में महाराष्ट्रीय समाज में यदि कोई पुरुष अच्छी अंग्रेजी बोलता या लिखता था तो वह प्रशंसा का पात्र समझा जाता था। लेकिन यदि कोई स्त्री थोड़ी सी भी अंग्रेजी बोलने की कोशिश करती थी तो उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। इस बात से उन लोगों को हैरानी नहीं होनी चाहिए जो आजकल भी यूरोपियन कपड़े पहनने पर स्त्रियों को तो हेय दृष्टि से देखते हैं लेकिन पुरुषों के पहनने पर कोई आपत्ति नहीं करते। लोग समझते थे कि अंग्रेजी पढ़ लिखकर हमारे घरों की स्त्रियां भी अंग्रेज स्त्रियों की भांति ही सोचने, विचारने और व्यवहार करने लगेंगी। वे डरते थे कि अगर हमारे यहां की स्त्रियां भी अंग्रेजी पढ़ गईं तो वह मर्दों के साथ मिलने-जुलने लगेंगी और अंग्रेज औरतों की तरह घर-गृहस्थी का काम करना बन्द कर देंगी। लेकिन पुरुषों के अंग्रेजी पढ़ने पर न तो समाज में ही किसी अशान्ति की आशंका होती थी और न घर का वातावरण बिगड़ने की ही। पुरुष तो अपनी जीविका कमाने के लिए और प्रगति करने के लिए ही अंग्रेजी पढ़ते थे। ऐसे सुधारक बहुत कम थे जो पश्चिमी विचारों से प्रभावित थे। उनका कहना था कि शिक्षा का लाभकारी प्रभाव फैलाना चाहिए और स्त्रियों को उससे वंचित नही रहना चाहिए। उनके विचार से अंग्रेजी भाषा उपयुक्त प्रकार की संस्कृति का माध्यम थी। इसके अतिरिक्त

अंग्रेजी पढ़े-लिखे पति और अनपढ़ पत्नी की सांस्कृतिक विषमता को वे लोग पसन्द नहीं करते थे। ठेठ हिन्दू मध्यवर्गीय घरों में पुरुष दफ्तर, कचहरी, स्कूल जाते थे जबकि स्त्रियां सभी प्रकार के घर-गृहस्थी के काम करती थीं। विशेष रूप से खाना बनाना, झाड़ू पोंछा देना, बरतन साफ करना और बच्चे पालना ही उनके काम थे। घर गृहस्थी के इन कामों के अतिरिक्त यदि उनके कोई कार्यकलाप थे तो वह थे, मन्दिर जाना, प्रवचन सुनना और भजनों आदि में भाग लेना। इस प्रकार उनका मानसिक स्तर बिल्कुल सीमित और नियंत्रित होता था। संस्कृति की इस अवस्था में रीति-रिवाजों का बोलबाला था। अंग्रेजी पढ़ने का किसी स्त्री का तनिक-सा भी प्रयास रीति-रिवाज की दुहाई दे कर कठोरता से कुचल दिया जाता था। अंग्रेजी सीखने वाली स्त्री के विरुद्ध आसपास की स्त्रियां एक हंगामा खड़ा कर देती थीं। इस सम्बन्ध में सुधारकों को अपने परिवारों की स्त्रियों की ओर से भी भारी विरोध का सामना करना पड़ता था। ऐसे कौटुम्बिक विरोध का सामना रानडे को भी करना पड़ा। उन्होंने वह सब कैसे किया यह आगे के अध्याय में देखेंगे।

सन् 1874 में जब 'निबन्ध माला' नामक एक प्रभावशाली मराठी मासिक पत्रिका आरंभ हुई, तब महाराष्ट्र के सामाजिक रूढ़िवाद को नया प्रोत्साहन, नई प्रेरणा मिली। विष्णुकृष्ण चिपलेकर, जो उसका सम्पादक था, बड़ा प्रभावशाली लेखक था। पश्चिमी साहित्य और इतिहास का उसके ऊपर बिल्कुल दूसरी प्रकार का ही प्रभाव पड़ा था। उनके अध्ययन के बाद उसने पश्चिमी विचारों की प्रशंसा नहीं की, बल्कि उनके द्वारा उसके हृदय में अपने देश, धर्म और भाषा के लिए गर्व उत्पन्न हो गया। अंग्रेजी साहित्य में देशभक्ति कूट-कूट कर भरी हुई है। चिपलेंकर की देशभक्ति ऐसी थी कि

वह बिना किसी भेदभाव के हर भारतीय चीज की प्रशंसा करता था और लगभग हर पश्चिमी चीज की निन्दा करता। उसकी यह पत्रिका बहुत थोड़े समय में ही लोकप्रिय हो गई क्योंकि उससे अधिकतर लोगों के अहंभाव की सन्तुष्टि होती थी। उसने सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का एक ऐसा नया युग आरम्भ कर दिया था, जो देश को विदेशी शासन से मुक्ति दिलाने का संकल्प करने के लिए प्रेरणा देता था। तिलक उसके अग्रणी नेता थे। इस युग के प्रवर्तन से समाज सुधार की आवश्यकता कम हो गई और उसे समाज के रूढ़िवादियों का समर्थन प्राप्त हो गया।

इसलिए जब सन् 1882 में सुधारकों के एक समुदाय ने लड़कियों के लिए स्कूल खोलने का निश्चय किया तो उनके प्रयासों का बहुत विरोध हुआ। स्वभावतः ही इस आन्दोलन के नेता रानडे थे। विलियम वेडरबर्न पुणे का कलेक्टर था। इसे भारतवासियों से सहानुभूति थी। वह रानडे के विचारों, जैसे भूराजस्व का स्थायी बन्दोबस्त और सहकारी ऋण समितियों को आरम्भ करने की आवश्यकता आदि से सहमत था। उसने रानडे से मित्रता बढ़ाई और अपने बड़े भाई की यादगार में उन्हें 1000 रु० का दान भारतीय स्त्रियों की शिक्षा पर खर्च करने के लिए दिया। इस दान के बाद रानडे ने इस काम के लिए और भी कई हजार जमा किए। जुलाई सन् 1882 में उन्होंने स्त्री शिक्षा के समर्थकों और अपने मित्रों को एक सभा बुलाई। सभा में लड़कियों का स्कूल खोलने का निश्चय किया गया। रानडे के अतिरिक्त आर० जी० भण्डारकर, डब्ल्यू० ए० मोदक और शंकर पांडुरंग पंडित उनके समर्थकों में थे। वे एक प्रतिनिधि मंडल लेकर सरकार के पास गए और उससे सहायता का आश्वासन प्राप्त किया। सरकार ने हुजूर पागा में उन्हें स्कूल

के लिए जगह दे दी। इस प्रकार सन् 1882 में स्त्रियों के लिए एक स्कूल खोला गया जो 'हुजूर पागा गर्ल्स स्कूल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सुधारकों ने इस घटना को एक महान उपलब्धि और भारतीय स्त्रियों के लिए उज्ज्वल भविष्य की आशा के रूप में देखा, लेकिन रूढ़िवादी हिन्दुओं के क्रोध की सीमा न रही। अधिकतर समाचार-पत्रों ने यह तो स्वीकार किया कि स्त्रियों को समुचित शिक्षा मिलनी चाहिए, लेकिन उन्होंने कहा कि स्कूल प्रायमरी स्तर पर न खोल कर उससे ऊंचे स्तर पर खोलने की क्या जल्दी थी। इन आलोचकों में सबसे अग्रणी 'दी पूना वैभव' नाम का एक मराठी अखबार था। उसने लिखा कि रानडे, पंडित और स्कूल के अन्य समर्थक भारतीय स्त्रियों का आचरण भ्रष्ट करने पर तुले हुए हैं। उसने अंग्रेज स्त्रियों के चरित्र पर आक्षेप किया और कहा कि इस स्कूल में पढ़ने वाली लड़कियों का चरित्र भी अंग्रेज स्त्रियों का सा हो जाएगा क्योंकि वे उनकी नकल करेंगी। विलियम वेडरबर्न ने रानाडे से इस अपमानजनक लांछन के विरुद्ध कठोर कदम उठाने के लिए कहा। रानडे ने सपादक को बुलाया और उसे वेडरबर्न के पास ले गए तथा उससे अपने इस काम के लिए क्षमायाचना प्रकाशित करने का वचन ले लिया। दूसरे अखबारों ने देखा कि इस प्रकार अनियंत्रित रूप से भला-बुरा छापने के परिणाम गंभीर हो सकते हैं। इसलिए उन्होंने धीरे-धीरे अपनी भाषा में संतुलन कायम किया। इसके दूसरे वर्ष तिलक के अखबार 'केसरी' में महिला हाई स्कूल में पढ़ाने के तरीकों और पाठ्यक्रमों के विरुद्ध आलोचना छपी। इन अखबारों का कहना था कि इस स्कूल में लड़कियों को पाश्चात्य रहन-सहन के तरीके सिखाए जाते हैं। यह आयु ऐसी होती है कि बच्चों पर बहुत जल्दी प्रभाव

पड़ता है, वे अत्यन्त संवदेनशील होते हैं। कुछ दिनों में अवश्य ऐसा होगा कि ये लड़कियां हिन्दुस्तानी रहन-सहन के तरीकों को हेय समझने लगेंगी। आगरकर नाम के एक सुधारक ने सन् 1887 में इस बात का उत्तर बड़ी जोरदार भाषा में दिया। लेकिन रूढ़िवादियों और उनके संगी-साथियों सभी को यह शंका लगी रहती थी कि अंग्रेजी शिक्षा लड़कियों को जरूर अंग्रेजी ढंग का बना देगी। सन् 1888 में प्रोफेसर जिन्सीवाले ने, जो बहुत पढ़ा-लिखा विद्वान था जिसकी स्मरण शक्ति बहुत तेज थी और जिसका भाषण मन्त्रमुग्ध कर लेने वाला होता था, लेकिन जो गैरजिम्मेदार था, झूठमूठ यह दोष लगाया कि लड़कियों के स्कूल की अंग्रेज प्रधानाध्यापिका ने अपने झूठे केले लड़कियों को खिलाए हैं। यह काम बहुत आपत्तिजनक है और इससे हिन्दू लडकियों की जाति और धर्म का नाश होता है। बाद में उसने इस के लिए माफी मांगी।

समाज सुधारकों ने अब एक और साहसिक काम करने के लिए कदम उठाया। उन्होंने एक ऐसा विधवा आश्रम खोलने का निश्चय किया जहां उनके रहने की भी व्यवस्था हो और शिक्षा का भी। रूढ़िवादियों ने इसका बहुत दृढ़ता से विरोध किया और अनेक प्रकार की बाधाएं डाली। सुधारकों ने यह आश्रम स्वयं नहीं खोला, किन्तु उन्होंने पंडिता रमाबाई नामक एक विदुषी महिला को, उसे आरम्भ करने में सहायता दी। पंडिता रमाबाई अनन्त शास्त्री डोंगरे की पुत्री थी जो मूलतः मंगलौर का रहने वाला एक विद्वान व्यक्ति था। अनन्त शास्त्री स्वतन्त्र विचारों वाला और स्वतन्त्रता से काम करने वाला व्यक्ति था। उस समय की परम्परा के विरुद्ध उसने अपने घर की स्त्रियों को संस्कृत पढ़ाई। इसके लिए उसके सम्बन्धियों और पड़ोसियों ने उसे बहुत सताया। उसने अपना घर और गांव छोड़ दिया और तीर्थ स्थानों में घूमता

रहा। जिस समय उसकी मृत्यु हुई उस समय उसके पास एक पैसा भी न था। उसकी मृत्यु के कुछ दिन बाद ही अपने बच्चों को छोड़ कर उसकी पत्नी भी काल के गाल में चली गई। उनके दो बच्चे थे श्रीनिवास और रमा। श्रीनिवास लगभग 22 वर्ष का था और उसे शास्त्रों का थोड़ा-सा ज्ञान था। रमा 16 वर्ष की थी और उसने संस्कृत के हजारों श्लोक जबानी याद कर रखे थे। अपने इसी ज्ञान के बल पर वे दोनों अपना जीवन निर्वाह करने की कोशिश करते थे। जगह-जगह घूमते-घूमते वे दोनों कलकत्ता पहुंचे। यहा उनकी योग्यता और ज्ञान की कदर निकली। ब्रह्मसमाज के नेताओं और विश्वविद्यालय के विद्वानों ने उनको सम्मानित किया। इसी समय, जबकि यह आशा बंधी थी कि उनकी बदकिस्मती का अन्त हो जाएगा, श्रीनिवास की मृत्यु हो गई। बिना किसी घबराहट के रमाबाई ने अपनी पढ़ाई जारी रखी और विद्वत्ता प्राप्त करती रही। उसने कलकत्ता में 'प्राचीन भारत में स्त्रियों का ऊंचा दर्जा' विषय पर भाषण दिए और स्त्रियों के शिक्षा प्राप्त करने, पुरुषों से स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने-जुलने और देर में शादी करने के अधिकार का समर्थन किया। हिन्दू धर्म के कर्णधारों ने उसका बहिष्कार कर दिया और यह कहा कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी भी स्त्री-पुरुष को मुक्ति नहीं मिल सकती। उसे ब्रह्मसमाज बहुत पसन्द आया। उसने असम में शूद्र जाति के एक बंगाली विद्वान से शादी कर ली। लेकिन अभाग्यवश वह डेढ़ वर्ष बाद मर गया। उनकी एक बच्ची थी। वही अब रमाबाई के कुटुम्ब में बाकी रह गई थी।

अन्त में पंडिता रमाबाई ने पुणे में बसने का निश्चय किया। उसने सोचा कि पुणे में शान्ति से रह कर कुछ समय अंग्रेजी पढ़ने में लगाऊंगी। लेकिन सुधारवादी विचारों वाली विदुषी स्त्री के रूप

में उसकी ख्याति वहां पहले ही पहुंच चुकी थी। उसने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। सन् 1882 में जब वह पुणे पहुंची तो सुधारकों और सुधार-विरोधियों की अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हुईं। सुधारकों ने सोचा कि स्त्री शिक्षा और स्त्री उत्थान में उससे बहुत सहायता मिलेगी। सुधारविरोधी यद्यपि उसकी वाक्पटुता और सहज ज्ञान से बहुत प्रभावित थे, फिर भी उसे सन्देह की दृष्टि से देखते थे। रमाबाई ने स्त्रियों की एक सभा की जो 'आर्य महिला समाज' कहलाती थी और जिसकी मीटिंग हर शनिवार को होती थी। श्रीमती रानडे लिखती हैं, "पंडिता रमाबाई बहुत शिष्ट थी और बहुत अच्छा बोलती थीं। उनकी प्रतिपादन शैली बहुत बढ़िया थी। [अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने और उन्हें मन्त्रमुग्ध करने का उनमें विशेष गुण था।" हन्टर कमीशन पुणे आया तो उसने शिक्षा के बारे में प्रभावपूर्ण गवाही दी। मैं उस व्यक्ति की पुत्री हूं, जिसने स्त्री शिक्षा के लिए अनेक कष्ट पाए और जो अपने आदर्शों के कारण समाज से बहिष्कृत कर दिया गया था। समाज में स्त्रियों का दर्जा ऊंचा उठाने के लिए मैंने अपना समस्त जीवन अर्पित करने का निश्चय कर लिया है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पुणे के सुधारकों का पूर्ण विश्वास उन्होंने प्राप्त कर लिया था। कमीशन के सामने जो गवाही उन्होंने दी, वह मराठी में ही थी। अध्यक्ष को उनके स्पष्ट विचार बहुत पसन्द आए, इसलिए उन्होंने उनका अनुवाद अंग्रेजी में करवा कर उनका प्रचार किया। अब रमाबाई ने इंग्लैंड जाकर पश्चिमी विचारों और संस्कृति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का निश्चय किया। उन्होंने 'स्त्री धर्म नीति' (स्त्रियों के कर्तव्य और धर्म) नामक एक पुस्तक लिखी और उसकी बिक्री से जो लाभ हुआ उससे उन्होंने अपने विदेश जाने का प्रबन्ध कर लिया। पतित और परित्यक्ता स्त्रियों के लिए किए गए लोकोपकारी

कार्य का उनके ऊपर बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ा। उन्होंने महसूस किया कि केवल क्राइस्ट के जीवन और शिक्षाओं से ही इन महान कार्यों और प्रयासों के लिए प्रेरणा मिल सकती है। हिन्दू शास्त्रों में तो ऐसी दयनीय स्त्रियों के लिए केवल घृणा और तिरस्कार ही भरा पड़ा है। इसके बाद तुरन्त ही उन्होंने और उनकी पुत्री ने ईसाई धर्म अपना लिया।

सन् 1889 में जब वह भारत वापिस आई तो बम्बई में 'शारदा सदन' नाम की एक संस्था आरम्भ की। इसमें विशेष रूप से विधवाओं के रहने और उनकी शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। सुधारकों ने एक सलाहकारी समिति बनाई। धर्म के विषय में वे उदार थे और कोई भी स्त्री या पुरुष अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म को स्वीकार कर सकता था। पंडिता रमाबाई के धर्मपरिवर्तन करके ईसाई बन जाने पर भी उनके लिए उनके मन में वही आदर और सत्कार की भावना बनी रही जो पहले थी। अमरीकन मिशनरी 'शारदा सदन' के लिए आर्थिक सहायता देते थे, इस पर भी उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। समाज में अल्पवयस्क विधवाओं के लिए एक घर की आवश्यकता और उसका लक्ष्य समझाते हुए उसके लिए रानडे ने धन की मांग की और एक संचालन समिति बनाने की अपील की। यह समिति उसी समय बन गई। सुधार विरोधियों में उत्तेजना की लहर फैल गई। तिलक के पत्र 'केसरी' ने कहा कि एक ईसाई महिला के हाथों में हिन्दू स्त्रियों की शिक्षा का भार छोड़ना ठीक नही है। रानडे का तर्क था कि जब स्कूल का नियम है कि वहां धर्मनिरपेक्षता की ही शिक्षा दी जाएगी तो फिर उसकी प्रधानाध्यापिका अगर ईसाई भी हैं तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। लेकिन कुछ दिनों बाद केसरी ने कुछ विश्वसनीय प्रमाण छापे और यह सिद्ध कर

दिया कि स्कूल में परदे के पीछे धर्म-परिवर्तन के कार्यक्रम चलते रहते हैं । सुधारक इस बात को सहन नहीं कर सके । रानडे, भण्डारकर, आगरकर तथा अन्य कई लोगों ने संस्था से अपने सम्बन्ध तोड़ लिए । उन्होंने अपने इस्तीफे में लिखा कि हमारे पास यह विश्वास करने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि बहुत-सी लड़कियों को रमाबाई अपनी निजी प्रार्थनाओं में शामिल होने और बाइबिल पढ़ने के लिए फुसला लेती है और उन्हें ईसाई धर्म की शिक्षा देती हैं । हम पूरे विश्वास के साथ कहते हैं कि दो लड़कियों ने तो अपने घर में अपने बड़ों से यह भी कह दिया है कि हमने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है । यदि सदन ने खुले रूप से एक धर्म-परिवर्तन संस्था का रूप ले लिया है तो हमें उससे अपने सम्बन्ध तोड़ने ही होंगे । हिन्दू धर्म द्वारा पंडिता रमाबाई को अत्यन्त कष्ट और उत्पीड़न मिले थे, इसलिए उन्हे उससे वैर भाव हो गया था । अब वह वैर इतना बढ़ गया था कि स्त्री उत्थान का उसका उत्साह भी ठंडा पड़ गया था । वह अपनी संस्था को केडगांव ले गई । इसके बाद रानडे ने उन्हीं उद्देश्यों को ले कर एक दूसरी संस्था खोलने की कोशिश की, लेकिन उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली ।

स्त्रियों के लिए हाई स्कूल खोलना और विधवाओं के शैक्षिक केन्द्रों को संभालना और उन्हें सहायता देना समाज सुधार के काम थे । साथ ही साथ उनके द्वारा शिक्षा पद्धति को सुधारने का भी प्रयास किया जाता था । शिक्षा का प्रसार और उसमें सुधार दोनों ही बातें राष्ट्रीय महत्व की थीं और रानडे, जिन्होंने स्वयं ही नई पद्धति से शिक्षा ग्रहण की थी, इन बातों के प्रति पूर्णरूप से जागरूक थे । शिक्षा-प्रणाली का सर्वेक्षण करने के लिए सन् 1882 में भारत सरकार ने 'हंटर कमीशन' नियुक्त किया था । रानडे ने इस विषय पर 'सार्वजनिक सभा जनरल' में दो लेख लिखे । 'हंटर कमीशन'

ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में लिखा और सुझाव दिया कि जो पैसा इस समय उच्च शिक्षा के लिए खर्च किया जा रहा है वह प्राइमरी शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए खर्च करना चाहिए और उच्च शिक्षा की व्यवस्था प्राइवेट संस्थाओं को सौंप देनी चाहिए। रानडे ने अपने लेखों में इन सुझावों का विरोध किया और कहा कि सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए मध्यम वर्ग की सहायता करे क्योंकि यह वर्ग ऐसा है कि शिक्षा के खर्च को उठाने में असमर्थ है क्योंकि उसके पास धन प्राप्त करने का कोई और जरिया नही है। यदि प्राइवेट एजेंसियां भी कालेजों और हाई स्कूलो की व्यवस्था अपने हाथों में लेने को आगे बढ़ेंगी तो उनके पास भी उन्हें चलाने के लिए पर्याप्त धन नही है। इसके अतिरिक्त सरकार को कुछ मानक हाई स्कूल और कालेज चला कर प्राइवेट रूप से चलाए जा रहे स्कूलो और कालेजों के लिए आदर्श स्थापित करना चाहिए। यह प्रस्ताव कि सरकार को 'उच्च शिक्षा को समर्थन देना त्यागना चाहिए' ईसाई मिशनरियों की ओर से आया था जो कालेजों का कार्य-संचालन कर रहे थे और निश्चय ही उससे उन्हें लाभ होता। क्रिश्चयन मिशनरियों द्वारा कालेजों के वास्तविक संचालन का रानडे ने अपने लेख में जोरदार विरोध किया था। उन्होंने लिखा कि किसी भी परिस्थिति में और किसी भी हालत में हिन्दुओं के इस महान राष्ट्र की शिक्षा पूर्णरूप से या विशेष रूप से उन लोगों के हाथों में नही सौंपी जा सकती, जो इस देश में यहां के विश्वासों और आस्थाओं को नष्ट करने के लिए आए है, जो इस राष्ट्र को ईसाई बना देना चाहते हैं, तथा जिन्हें अपने काम का संचालन करने के लिए विदेशों के धर्मप्रिय लोगों से दान के रूप में धन मिलता है। सरकार के लिए अपने प्रमुख कर्त्तव्य का इस प्रकार त्याग करना सर्वथा

अनुचित है और आधुनिक संकल्पना के पूर्णरूपेण विरुद्ध है। हिन्दू लोग 'सेण्डविच' और 'सोसाइटी' द्वीपों के जंगली लोगों की भांति असभ्य नहीं हैं जिन्हें एक साथ सामूहिक रूप से ईसाई बना दिया जाए। रानडे ने प्राइमरी शिक्षा को फैलाने और प्रोत्साहन देने के लिए उच्च शिक्षा पर व्यय में किफायत करने के सरकार के इरादे की बहुत निन्दा की और कहा कि शिक्षा पर होने वाले कुल खर्चे में वृद्धि होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि जो सरकार व्यर्थ के फ्रंटियर युद्ध पर 20 करोड़ रुपया खर्च कर सकती है और आधे राजस्व को एक सैनिक टुकड़ी पर खर्च कर देती है तथा शेष आधे को 'होम चार्जेज' के लिए भेज देती है, तो वह यह नहीं कह सकती कि वह शिक्षा के लिए वर्तमान अनुदान को बढ़ाने की स्थिति में नहीं है, जिससे कि वह पुनः अपने पुराने स्तर पर पहुंच सके। रानडे ने सुझाव दिया कि यदि देशी स्कूल-मास्टरों से सहायता ली जाए तो प्राइमरी शिक्षा का प्रसार बहुत जल्दी और कम खर्चे में हो सकता है। शिक्षा विभाग जिस काम के लिए 14 लाख रु. खर्च करता है वह देशी स्कूलों की सहायता से केवल 4 लाख रुपये में हो सकता है। देशी मास्टर को आलसी, अनुशासनहीन और अकुशल कह कर आलोचना की जाती थी। लेकिन रानडे ने कहा कि ग्रामीणों की सीमित शैक्षिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वे ठीक हैं। ग्रामीण लोगों को दैनिक जीवन के लिए पढ़ने-लिखने के प्रारम्भिक ज्ञान की ही आवश्यकता है। यह ज्ञान सन्तोषजनक रूप से और कम खर्चे में देशी स्कूलों द्वारा मिल सकता है।

रानडे 'डेकन एजूकेशन सोसाइटी' से जो 1884 में एक प्राइवेट कालेज आरम्भ करने के ध्येय से स्थापित की गई थी, सम्बद्ध थे। बाद में इस कालेज का नाम 'फर्गुसन' कालेज रखा

गया । इस सोसाइटी को जो 'न्यू इंगलिश स्कूल' से विकसित हुई, पूणे में स्थापित की गई । सन् 1880 में पूणे में विष्णुशास्त्री चिपलंकर, बी. जी. तिलक और सी. जी. आगरकर ने स्थापित किया था । ये तीनों नवयुवक विद्यार्थियों के हृदय में अपने देश के लिए देश-प्रेम की भावना उत्पन्न करना चाहते थे । आदर्शवादी स्कूल स्थापित करने के लिए जीवनयापन के अच्छे-अच्छे सुयोग उन्होंने छोड़ दिए, रानडे उनके उत्साह की प्रशंसा करते थे । वी. एस. आप्टे और जी. एम. नामजोशी नामक दो अन्य आदर्शवादी व्यक्ति भी उनका साथ देने के लिए तैयार हो गए । उन्होंने दो साप्ताहिक निकाले । मराठी में 'केसरी' और अंग्रेजी में 'मरहठा' । दो वर्ष बाद विष्णुशास्त्री चिपलंकर की मृत्यु हो गई । लेकिन नवयुवकों का वह दल निरन्तर काम करता रहा । सन् 1884 में उन्होंने पूणे में एक कालेज खोलने का निश्चय किया । इसके लिए उन्होंने सोचा कि एक ऐसी केन्द्रीय संस्था होनी चाहिए जिसके तत्वावधान में कालेज सहित उनकी सभी संस्थाएं काम करें । 'डेकन एजूकेशन सोसाइटी' आरंभ करने का प्रस्ताव रखते हुए उन्होंने कई प्रतिभाशाली सज्जनों को आमन्त्रित किया, जिनमें एक रानडे भी थे । तिलक द्वारा प्रस्तुत किए गए एक प्रस्ताव से पांच समर्थक चुने गए, जिनमें एक रानडे थे । अन्य थे गवर्नर सर जेम्स फर्गुसन, वेडरबर्न, तैलंग और एच.आर. चिपलंकर । सात आजीवन सदस्य थे जो अध्यापक थे । फर्गुसन कालेज सन् 1885 में खोला गया । यह पहला कालेज था, जहां सभी प्रोफेसर भारतीय थे और शिक्षा ही जिनका लक्ष्य था । विद्यार्थियों के हृदय में देश-प्रेम की भावना भरना ही उनका आदर्श था ।

सन् 1886 में सरकार ने प्रस्ताव रखा कि 'डेकन कालेज' को जो एक सरकारी संस्था थी, 'डेकन एजूकेशन सोसाइटी' को

सौंप दिया जाए। वित्त कमीशन के काम के सिलसिले में रानडे उस समय कलकत्ता में थे। उन्होंने देखा कि सरकार के इस प्रस्ताव के पीछे उनकी कालेज शिक्षा के ऊपर किफायत करने की इच्छा ही सर्वोपरि है, 'डेकन एजूकेशन सोसाइटी' की प्रशंसा की बात गौण है। उन्होंने तार द्वारा सोसाइटी के प्रतिनिधियों तिलक और आगरकर को सलाह दी कि वे लोग निम्नलिखित शर्तों पर समझौता कर लें। फीस के अतिरिक्त सरकार की ओर से 25,000 रु. का अनुदान दस वर्षों तक मिलता रहे, यूरोपियन अफसरों को नियुक्त करने की कोई बाध्यता न हो और उसके संचालन में कोई बाहरी हस्तक्षेप न हो। शर्तों को मानने पर सरकार को बहुत अधिक और बहुत समय तक खर्चा जारी रखना पड़ता, इसलिए उन्होंने शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया और इसी बात पर समझौता वार्ता भंग हो गई।

अध्याय 12

विद्वतापूर्ण राजनीति

(१८७९–१८८५)

ऐसी तीन संस्थाएं थीं जिनका परिवर्तन की प्रगति में विशेष हाथ था। वे थीं (1) औपचारिक सभाएं (जिनका आयोजन विशिष्ट लक्ष्य को ध्यान में रखकर किया जाता था), (2) प्रेस यानी समाचार-पत्र, और (3) व्याख्यान मंच। भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग इन तीनों संस्थाओं की भूमिका से बहुत प्रभावित थे। जैसा कि पहले ही देख चुके हैं, रानडे पूने की अनेक संस्थाओं के प्रवर्तक थे। उन्होंने सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया था और अक्सर समाचार-पत्रों के लिए लिखते रहते थे तथा सार्वजनिक सभा के तत्वावधान में एक त्रैमासिक पत्रिका भी आरम्भ की थी। इन्हीं तीन संस्थाओं के द्वारा रानडे ने जनता की विभिन्न क्षेत्रों में सेवा की। रानडे की आदत थी कि जिस भी समस्या को वह अपने हाथ में लेते थे, उसके विषय में बोलने और लिखने से पहले वह उसका हर पहलू से पूरा अध्ययन करके पूरी जानकारी प्राप्त कर लेते थे। उनके कार्य में सबसे अधिक उपयोगी उपकरण सिद्ध हुई सन् 1878 में सार्वजनिक सभा के तत्वावधान में आरम्भ की गई त्रैमासिक पत्रिका। रानडे के निर्देशन में इस पत्रिका में सदा ही अच्छे और उच्च स्तर के लेख लिखे जाते थे जिनके कारण उसकी प्रतिष्ठा खूब बढ़ गई थी। रानडे पत्रिका का बड़ा अच्छा पर्यवेक्षण करते थे। जो लेख उसमें छपते थे वे अधिकतर बिना हस्ताक्षरों के ही होते थे। रानडे हर लेख को अच्छी तरह पढ़ते थे, और जहां

आवश्यक समझते थे थोड़ा बहुत सुधार भी कर देते थे। एक बार उन्होंने जी० वी० जोशी को, जो एक योग्य अर्थशास्त्री और अनुभवी लेखक थे, उनके लेख में किए गए परिवर्तनों के विषय में लिखा कि मैंने आपके लेख में इतने परिवर्तन किए हैं कि वह पहचान में भी नहीं पड़ता। रानडे के अपने लेख भी जो लगभग प्रत्येक अंक में छपते थे, बिना हस्ताक्षरों के ही होते थे। उनके एक मित्र जी० ए० मनकर ने रानडे का जीवनचरित लिखा है, उसमें उनके सभी लेखों की सूची दी है। उन लेखों को देखने और पढ़ने से मालूम होता है कि रानडे के क्या विचार थे और उन्होंने किन और कैसी समस्याओं को हल करने का प्रयास किया था। इस अध्याय में राजनीति और प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं के विषय में लिखा गया है। आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य मामलों के विषय में रानडे के विचारों की समीक्षा आगे के अध्यायों में की जाएगी।

डिजराइली सैलिसबरी लिटन के सन् 1876 से 1880 तक के क्षोभ और उत्तेजनापूर्ण शासन का पहले ही संक्षेप में वर्णन किया जा चुका है। उसके कुछ पहलुओं के प्रति रानडे के विरोध का भी उल्लेख किया जा चुका है। रानडे अपने शान्त स्वभाव और संतुलित विचारों के लिए प्रसिद्ध थे, लेकिन आवश्यकता पड़ने पर वह प्रचण्ड और कठोर आघात भी कर सकते थे। सर रिचार्ड टेम्पिल के शासन के विषय में उन्होंने एक लेख लिखा था जिससे मालूम होता है कि जहां आवश्यकता होती थी वहां वह जोरदार फटकार भी मारते थे, भर्त्सना भी करते थे। उन्होंने एक बार लिखा, "इसमें कोई शक नहीं कि सर रिचार्ड टेम्पिल के अन्दर महान् शारीरिक शक्ति है और वह आघातों को सह सकता है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि उसके अन्दर उच्च राजनीतिक और प्रशासनिक योग्यताएं भी हैं। निरंकुश शासक के हाथों में ये सद्गुण

गम्भीर सार्वजनिक अनिष्ट के ही द्योतक है। सर रिचार्ड टेम्पिल का न तो कोई निश्चित उद्देश्य है और न ऐसे संतुलित विचार ही हैं जो सिद्धान्तों पर आधारित दृढ़धारणाओं को प्रेरणा देते हों। उसके शासन की सबसे बड़ी कमजोरी सदा यही रही है कि वह सदा अपना स्वार्थ सिद्ध करने में ही लगा रहता है। यदि उसके हित सार्वजनिक कल्याण के हितों से टकराते है, तब भी वह अपने स्वार्थ को नहीं छोड़ता। जो उसके उद्देश्य के साधन में बाधक होते हैं और जो उसके अधीन काम करते हैं, उन सबको वह एक ही लाठी से हांकता है। वह उस काम की महत्ता को नहीं समझ पाता जिससे सुधार का काम भी होता रहे और उसका कोई स्पष्ट प्रभाव भी दिखाई न दे। जनता के लिए उसके हृदय में कोई सद्भाव नहीं है बल्कि वह सदा भोले-भाले लोगों को अपने जाल में फंसाने का मौका देखता रहता है। उसे अपनी अंग्रेजियत का बेहद घमंड है। उसका ख्याल है कि यहां के देशवासियों को बच्चों की तरह बहलाया जा सकता है। वह चाहता है कि भारतवासियों को हर सफेद चमड़ी वाले गोरे के उपकारों के लिए कृतज्ञ होना चाहिए। उसकी अपनी कोई नीति नहीं है। उसके विचार अस्थिर हैं और हवा के रुख की तरह बदलते रहते हैं। स्वतन्त्र संस्थाओं के लिए उसके दिल में कोई स्थान नही है और वह स्वतन्त्र विचारों से कभी उलझना नहीं चाहता—उनसे अपने आपको बचाने का पूरा उपाय कर लेता है। वास्तव मे उसका शासन स्वयं प्रशंसा पाने और केवल अपना स्वार्थ साधने के लिए ही है और उसका परिणाम नैतिक पतन है।"

विशेष रूप से वे विषय, जिन पर वह (रानडे) अपने विचार प्रकट करते थे, देशी राज्य, सरकारी नौकरी पर [illegible], स्थानीय सरकार और जिला प्रशासन थे। बाद में [illegible] विषयों पर उन्होंने अपने कुछ गम्भीर विचार प्रकट किए। [illegible]

हमें उनकी स्पष्टवादिता, साहस तथा निहित सिद्धान्तों एवं विस्तृत अध्ययन का आभास मिलता है । उनमें आदर्श और व्यावहारिकता का मिश्रण भी है । देशी राज्यों के लिए संविधान बनाने के विषय में जो तर्क उन्होंने रखे, उन्हें हम उदाहरण के रूप में ले सकते हैं । स्पष्ट है कि उनके समय में जैसी प्रतिनिधिमूलक और उत्तरदायी सरकार इंग्लैंड में थी, उनके विचार से वही आदर्श सरकार थी । लेकिन वह यह भी समझते थे कि लोगों के पिछड़ेपन को देखते हुए और सरकार द्वारा किए जाने वाले विरोध को देखते हुए उस आदर्श को प्राप्त करना कठिन था इसलिए उन्होंने उस आदर्श का जिक्र तक नहीं किया । लेकिन उन्होंने ऐसे परिवर्तनों का प्रस्ताव सामने रखा जो इस दिशा में आगे बढ़ा सकते थे । शासकों की उत्तरदायित्वहीनता के कारण देशी राज्यों में कुशासन फैल गया । इसलिए इस समय रानडे इस गैरजिम्मेदारी को रोकने में ही संलग्न थे । उन्होंने प्रस्ताव किया कि शासक द्वारा नामांकित एक 'उत्तरदायी' मन्त्री की नियुक्ति होनी चाहिए, जिसकी स्वीकृति गवर्नर जनरल से लेनी चाहिए। उसका कार्यकाल सुरक्षित होना चाहिए । केवल काम में अयोग्य होने अथवा कोई भारी अपराध या विश्वासघात करने पर ही उसे नौकरी से निकाला जाना चाहिए। इस मंत्री की स्थिति निर्णायक और प्रधान होनी चाहिए जिससे कि शासक उसके ऊपर अपनी सत्तात्मक शक्ति का प्रयोग न कर सके । शासक को मंत्री के विरुद्ध अपनी सत्ता का प्रयोग करने का अधिकार तभी हो जब उसकी व्यवस्था के विरुद्ध औपचारिक रूप में अपील की गई हो । मंत्री को अपने अधिकारों का प्रयोग करने की पूरी स्वतन्त्रता हो । उसमें किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप न किया जाए । इसके अतिरिक्त उन उच्च अधिकारियों की, जो विभागों के अध्यक्ष भी हों, एक परिषद होनी चाहिए जो नए करों के विषय में निर्णय लें, प्रशासन के कुछ

नए नियम बनाए और सर्वोच्च सत्ता अथवा अन्य राज्यों से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान और हल निकालें । व्यक्तिगत सम्पत्ति और सार्वजनिक धन, कार्यपालिका और न्यायपालिका तथा नागरिक और सैनिक काम अलग-अलग होने चाहिए और किसी भी परिस्थिति में किसी एक आदमी के हाथों में नही सौंपे जाने चाहिए। ये परस्पर सर्वथा भिन्न विभाग है । जमीन का लगान निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित करना चाहिए । कानून लिखित होने चाहिए तथा वार्षिक बजट और हिसाब का विवरण तैयार होना चाहिए। इस प्रकार रानडे ने अपने सुझावों में शुद्ध और सुगठित प्रशासन पर जोर दिया । आदर्श सरकार की बात उन्होंने नही उठाई। हैदराबाद के सर सालारजंग के प्रशासन का सर्वेक्षण करके रानडे ने इन सुधारों में से कुछ को कार्यान्वित करने के लिए सालारजंग की प्रशंसा की और शेष सुधारों को भी अपने राज्य में लागू करने की सलाह दी ।

रानडे के त्रैमासिक पत्र 'सार्वजनिक सभा जनरल' ने भारत फैक्टरी कानून के प्रस्ताव का विरोध किया । उसका तर्क था कि इस प्रस्ताव का उद्देश्य भारतीय मजदूरों को लाभ पहुंचाना नही, मानचेस्टर के निर्माताओं को लाभ पहुंचाना है । उसने कहा कि यदि सरकार अनुभव के आधार पर फैक्टरी के मजदूरों की असली हालत जानने और समझने की कोशिश करती और अच्छी तरह विचार करके दूरदर्शिता से यह मालूम करके कि फैक्टरी के बच्चों को किस प्रकार की सहायता और सुरक्षा की सबसे अधिक आवश्यकता है, निर्णय लेती तो इस कानून को बनाने में उसे स्वयं इतनी चिन्ता और परेशानी न होती और न मिल मालिकों को नाराजगी ही होती और न बच्चों को बेरोजगारी का सामना करना पड़ता । यदि वह दूरदर्शिता और सोचविचार से काम करती

तो उसे मालूम हो जाता कि उनकी सबसे बड़ी समस्या भोजन की कमी है और उनकी सबसे बड़ी चिन्ता यही है कि उसे कैसे खरीदा जाए। उन्हे अपने शरीरों को ढंकने और अत्यधिक काम से राहत पाने को उतनी चिन्ता नहीं है। लेख से पता चलता है कि मानचेस्टर के दबाव के कारण ही फैक्टरी कानून बनाया गया था और उसका उद्देश्य बम्बई के सूती-उद्योग के मार्ग में जो मानचेस्टर का मुकाबला करता था, रोड़े अटकाना था। जो जूट मिलें और कपास ओटने की फैक्टरियां अंग्रेजों की थी, उन पर यह कानून लागू नहीं होता था। इससे पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय स्वामित्व वाली मिलों के कार्य संचालन में अड़ंगा लगाने के लिए ही यह कानून बनाया गया था, भारतीय मजदूरों के हितों को बढ़ावा देने के लिए नहीं। फैक्टरी कानून के प्रति रानडे के विरोध से भले ही हम सहमत न हों लेकिन शायद इस कानून के छिपे इरादों से वह सशंकित थे। क्योंकि यद्यपि वह लार्ड रिपन के शासनकाल में सन् 1881 में पास हुआ था लेकिन सबसे पहले सन् 1877 में लार्ड लिटन ने ही इसका प्रस्ताव रखा था। लार्ड रिपन के इरादे नेक थे। नील, चाय और काफी की खेती को इस कानून से अलग रखा गया था। इसका कारण यह था कि रिपन बंगाल के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर सर आशले ईडन के विरोध को नहीं रोक सका था। ईडन बंगाल के बागान मालिकों से बहुत प्रभावित था।

सन् 1880 में इंग्लैंड कन्जरवेटिव सरकार की जगह लिबरल पार्टी की सरकार आ गई और डिजराइली के स्थान पर ग्लैडस्टन प्रधान मंत्री बना तथा लार्ड रिपन भारत का वाइसराय बना। भारतीय जनता ने इस परिवर्तन का स्वागत किया। साम्राज्यवादी, आक्रामक और जातिभेद की नीति उलट दी गई। अफगानिस्तान से शान्तिपूर्ण समझौता कर लिया गया और 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट'

रद्द कर दिया गया। 'लोकल बोर्ड' या कार्पोरेशन स्थापित करके स्थानीय स्वशासन आरम्भ किया गया। इस कार्रवाई से भारतीय विद्वानों को बहुत प्रसन्नता हुई। उन्हें पहली बार उस लोकतन्त्र का अनुभव हुआ जिसकी विशेषताएं उन्होंने अब तक केवल किताबों में ही पढ़ी थी। सन् 1884 में स्प्रिंग लेक्चर सिरीज' (वसन्त व्याख्यान माला) के अन्तर्गत एम० बी० नामजोशी ने पूणे में एक लेक्चर दिया। उसके बाद रानडे भी बोले। उन्होंने कहा कि चुने हुए सदस्य को अपने स्वतन्त्र निर्णय के अनुसार काम करना चाहिए। उसे अपने निर्वाचकों के विचारों को प्रतिध्वनित करने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने वैधानिक निकाय सगठन सम्बन्धी अन्य प्रश्नों पर भी प्रकाश डाला, जैसे प्रतिनिधियों को भत्ते का भुगतान और अप्रत्यक्ष टैक्स लगाना। भारत के पढ़े-लिखे विद्वानों के इन विचारों के साथ लार्ड रिपन को सहानुभूति थी कि वे अपने देश के शासन में अधिक क्रियात्मक रूप से भाग लेना चाहते थे। भारत में जो ब्रिटिश अफसर थे उनमें से बहुतों ने लार्ड रिपन के विचारों का बहुत विरोध किया। इसी झगड़े के फलस्वरूप उस विवाद का आरम्भ हुआ जो 'इल्बर्ट बिल' विवाद कहलाता है।

कानून की एक अनियमितता को समाप्त कर देने के लिए ही 'इल्बर्ट बिल' बनाया गया था। उस समय के प्रचलित कानून के अनुसार कोई भी डिस्ट्रिक्ट एवं सेशन्स जज (प्रेसीडेंसी नगरों को छोड़ कर अन्यत्र) किसी भी यूरोपियन का मुकदमा, स्वयं यूरोपियन न होने पर, हाथ में नही ले सकता था। शुरू में तो आमतौर से सभी डिस्ट्रिक्ट या सेशन्स जज यूरोपियन ही होते थे इसलिए कोई कठिनाई नही होती थी। लेकिन इतनी कठिनाइयों और रुकावटों के होते हुए भी कुछ भारतीय आई० सी० एस० में आ गए और सन् 1883 तक कुछ लोग इतने सीनियर हो गए

कि डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज के रूप में नियुक्ति के हकदार हो गए। उनमें से एक ने इस अनियमितता के विरुद्ध शिकायत की कि अधीनस्थ यूरोपियन 'सयुक्त मजिस्ट्रेट' जिन मुकदमों का न्याय कर सकता है भारतीय जज उससे ऊंचे पद पर होते हुए भी उन मुकदमो का न्याय क्यों नही कर सकता। बंगाल सरकार इस बात पर राजी हो गई और उसने आई० सी० एस० के भारतीय और यूरोपीय सदस्यों के बीच के भेदभाव को दूर करने की सिफारिश की। लार्ड रिपन भी राजी हो गया और कानून सदस्य सर कोर्ट ने इल्वर्ट को तदनुसार एक बिल का मसौदा बनाने का आदेश दिया। सन् 1883 मे बिल पेश करने के कारण सभी स्थानों में यूरोपियनो ने बड़ा भारी हगामा मचा दिया। उन्होंने बिल को अपने विशेषाधिकारों पर कुठाराघात समझा। आई० सी० एस० के यूरोपीय सदस्यों, यूरोपीय व्यापारियों और बागानों के मालिकों, सभी ने मिलकर, बिल और उसके निर्माताओं विशेष रूप से लार्ड रिपन की निन्दा की। इस उत्तेजना और अशान्ति के दौरान उग्र जातिभेद की भावनाएं भी उभर आईं। उन्होंने एक रक्षा समिति बनाई और प्रचार के लिए डेढ़ लाख रुपया इकट्ठा करके पूरे देश में बड़ी-बड़ी सभाएं आयोजित की। लार्ड रिपन के सभी समारोहों का बहिष्कार किया गया और उसकी बेइज्जती की गई। जो भाषण दिए गए वे असंयत, उग्र और उन्मादपूर्ण थे। इससे लार्ड रिपन को झुकना पड़ा और बिल इस तरह पास किया गया, जिससे यूरोपियनों को ही लाभ हुआ। इस आन्दोलन से भारतवासियों की आंखें खुल गईं। उन्होंने उससे एक तो यह बात सीखी कि भारत में विशेषाधिकार प्राप्त यूरोपियनों के साथ एक लम्बा संघर्ष किए बिना उन्हें उनके बराबर का पद प्राप्त करने की आशा नही करनी चाहिए। दूसरे, उन्होंने इस झगड़े के परिणाम को देख

कर यह समझ लिया कि अपनी शिकायतों को दूर करवाने का सबसे प्रभावकारी तरीका यही है कि पूरा राष्ट्र एक होकर सरकार के विरुद्ध प्रचण्ड आन्दोलन करे।

भारतवासियों ने भी सभाएं की और न्याय और समानता के प्रश्न को प्रधानता देते हुए लेख छपवाए। इस अप्रिय अन्त के बाद रानडे ने सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक में एक लेख लिखा। उन्होंने कहा कि इस विवाद से यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि ऐंग्लो इंडियन समुदाय कभी भारतीय आकांक्षाओं का समर्थन नही करेगा और समझ लेना चाहिए कि भारत में जितने भी अंग्रेज है वे सभी कन्जरवेटिव पार्टी के है। इसके विपरीत भारतीय अल्पसंख्यक शिक्षित वर्ग लिबरल पार्टी का प्रतिनिधित्व करता है। "ये दो लिबरल और कन्जरवेटिव दल है जो भारत में कार्यरत है।" यूरोपियनों के दिल में भारतवासियों के प्रति जो घृणा थी, उसके विषय में वह लिखते हैं—"यह पक्षपात और यह विद्वेष एवं घृणा सभी विजेता राष्ट्रों की आदत मे शुमार है और यह पाप उनको घेरे रहता है। स्पार्टावालों ने हेलट को, प्राचीन रोमन पैट्रिशियनों ने प्लीबियनों को, उत्तरकालीन रोमनों ने लैटिनों और इटैलियनों को, अमेरिकनों और वेस्ट इडियन प्लान्टरों ने नीग्रो और चीनी लोगो को दास बनाया। हमारे देश में बड़ी जातियों ने सभी आदिवासियों को पैरों तले कुचला और कठोरता से उनका दमन किया, लेकिन बाद मे इसकी प्रतिक्रिया हुई और उन्हें इसका भयानक बदला मिला। ब्रिटिश जनता ने अनाधिकार रूप से एक उच्च जाति का प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया है। अब ब्रिटिश लोग अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों के लिए शोर मचा रहे हैं तथा विजित प्रजा के प्रति घृणा प्रदर्शित कर रहे हैं—यह इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र है।"

कि डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज के रूप में नियुक्ति के हकदार हो गए। उनमें से एक ने इस अनियमितता के विरुद्ध शिकायत की कि अधीनस्थ यूरोपियन 'सयुक्त मजिस्ट्रेट' जिन मुकदमों का न्याय कर सकता है भारतीय जज उससे ऊंचे पद पर होते हुए भी उन मुकदमों का न्याय क्यों नही कर सकता। बंगाल सरकार इस बात पर राजी हो गई और उसने आई० सी० एस० के भारतीय और यूरोपीय सदस्यों के बीच के भेदभाव को दूर करने की सिफारिश की। लार्ड रिपन भी राजी हो गया और कानून सदस्य सर कोर्ट ने इल्वर्ट को तदनुसार एक बिल का मसौदा बनाने का आदेश दिया। सन् 1883 में बिल पेश करने के कारण सभी स्थानों में यूरोपियनों ने बड़ा भारी हंगामा मचा दिया। उन्होंने बिल को अपने विशेषाधिकारों पर कुठाराघात समझा। आई० सी० एस० के यूरोपीय सदस्यों, यूरोपीय व्यापारियों और बागानों के मालिकों, सभी ने मिलकर, बिल और उसके निर्माताओं विशेष रूप से लार्ड रिपन की निन्दा की। इस उत्तेजना और अशान्ति के दौरान उग्र जातिभेद की भावनाएं भी उभर आईं। उन्होंने एक रक्षा समिति बनाई और प्रचार के लिए डेढ़ लाख रुपया इकट्ठा करके पूरे देश में बड़ी-बड़ी सभाएं आयोजित की। लार्ड रिपन के सभी समारोहों का बहिष्कार किया गया और उसकी बेइज्जती की गई। जो भाषण दिए गए वे असंयत, उग्र और उन्मादपूर्ण थे। इसमे लार्ड रिपन को झुकना पड़ा और बिल इस तरह पास किया गया, जिसमे यूरोपियनों को ही लाभ हुआ। इस आन्दोलन से भारतवासियों की आंखें खुल गईं। उन्होंने उसमे एक तो यह बात सीखी कि भारत में विशेषाधिकार प्राप्त यूरोपियनों के साथ एक लम्बा संघर्ष किए बिना उन्हें उनके बराबर का पद प्राप्त करने की आशा नही करनी चाहिए। दूसरे, उन्होंने इस झगड़े के परिणाम को देख

कर यह समझ लिया कि अपनी शिकायतों को दूर करवाने का सबसे प्रभावकारी तरीका यही है कि पूरा राष्ट्र एक होकर सरकार के विरुद्ध प्रचण्ड आन्दोलन करे।

भारतवासियों ने भी सभाएं की और न्याय और समानता के प्रश्न को प्रधानता देते हुए लेख छपवाए। इस अप्रिय अन्त के बाद रानडे ने सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक में एक लेख लिखा। उन्होंने कहा कि इस विवाद से यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि ऐंग्लो इंडियन समुदाय कभी भारतीय आकांक्षाओं का समर्थन नहीं करेगा और समझ लेना चाहिए कि भारत मे जितने भी अंग्रेज है वे सभी कन्जरवेटिव पार्टी के हैं। इसके विपरीत भारतीय अल्पसंख्यक शिक्षित वर्ग लिबरल पार्टी का प्रतिनिधित्व करता है। "ये दो लिबरल और कन्ज़रवेटिव दल है जो भारत मे कार्यरत हैं।" यूरोपियनों के दिल में भारतवासियों के प्रति जो घृणा थी, उसके विषय में वह लिखते है—"यह पक्षपात और यह विद्वेष एवं घृणा सभी विजेता राष्ट्रों की आदत में शुमार है और यह पाप उनको घेरे रहता है। स्पार्टावालों ने हेलट को, प्राचीन रोमन पैट्रिशियनों ने प्लीबियनों को, उत्तरकालीन रोमनों ने लैटिनों और इटैलियनों को, अमेरिकनों और वेस्ट इंडियन प्लान्टरों ने नीग्रो और चीनी लोगों को दास बनाया। हमारे देश में बड़ी जातियों ने सभी आदिवासियों को पैरों तले कुचला और कठोरता से उनका दमन किया, लेकिन बाद में इसकी प्रतिक्रिया हुई और उन्हें इसका भयानक बदला मिला। ब्रिटिश जनता ने अनाधिकार रूप से एक उच्च जाति का प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया है। अब ब्रिटिश लोग अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों के लिए शोर मचा रहे है तथा विजित प्रजा के प्रति घृणा प्रदर्शित कर रहे है—यह इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र है।"

कि डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज के रूप में नियुक्ति के हकदार हो गए। उनमें से एक ने इस अनियमितता के विरुद्ध शिकायत की कि अधीनस्थ यूरोपियन 'संयुक्त मजिस्ट्रेट' जिन मुकदमों का न्याय कर सकता है भारतीय जज उससे ऊंचे पद पर होते हुए भी उन मुकदमों का न्याय क्यों नहीं कर सकता। बंगाल सरकार इस बात पर राजी हो गई और उसने आई० सी० एस० के भारतीय और यूरोपीय सदस्यों के बीच के भेदभाव को दूर करने की सिफारिश की। लार्ड रिपन भी राजी हो गया और कानून सदस्य सर कोर्ट ने इल्बर्ट को तदनुसार एक बिल का मसौदा बनाने का आदेश दिया। सन् 1883 में बिल पेश करने के कारण सभी स्थानों में यूरोपियनों ने बड़ा भारी हंगामा मचा दिया। उन्होंने बिल को अपने विशेषाधिकारों पर कुठाराघात समझा। आई० सी० एस० के यूरोपीय सदस्यों, यूरोपीय व्यापारियों और बागानों के मालिकों, सभी ने मिलकर, बिल और उसके निर्माताओं विशेष रूप से लार्ड रिपन की निन्दा की। इस उत्तेजना और अशान्ति के दौरान उग्र जातिभेद की भावनाएं भी उभर आईं। उन्होंने एक रक्षा समिति बनाई और प्रचार के लिए डेढ़ लाख रुपया इकट्ठा करके पूरे देश में बड़ी-बड़ी सभाएं आयोजित की। लार्ड रिपन के सभी समारोहों का बहिष्कार किया गया और उसकी बेइज्जती की गई। जो भाषण दिए गए वे असंयत, उग्र और उन्मादपूर्ण थे। इससे लार्ड रिपन को झुकना पड़ा और बिल इस तरह पास किया गया, जिससे यूरोपियनों को ही लाभ हुआ। इस आन्दोलन से भारत-वासियों की आंखें खुल गईं। उन्होंने उससे एक तो यह बात सीखी कि भारत में विशेषाधिकार प्राप्त यूरोपियनों के साथ एक लम्बा संघर्ष किए बिना उन्हें उनके बराबर का पद प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए। दूसरे, उन्होंने इस झगड़े के परिणाम को देख

कर यह समझ लिया कि अपनी शिकायतों को दूर करवाने का सबसे प्रभावकारी तरीका यही है कि पूरा राष्ट्र एक होकर सरकार के विरुद्ध प्रचण्ड आन्दोलन करें।

भारतवासियों ने भी सभाएं की और न्याय और समानता के प्रश्न को प्रधानता देते हुए लेख छपवाए। इस अप्रिय अन्त के बाद रानडे ने सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक में एक लेख लिखा। उन्होंने कहा कि इस विवाद से यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि ऐंग्लो इंडियन समुदाय कभी भारतीय आकांक्षाओं का समर्थन नही करेगा और समझ लेना चाहिए कि भारत में जितने भी अंग्रेज हैं ये सभी कन्ज़रवेटिव पार्टी के हैं। इसके विपरीत भारतीय अल्पसंख्यक शिक्षित वर्ग लिबरल पार्टी का प्रतिनिधित्व करता है। "ये दो लिबरल और कन्ज़रवेटिव दल हैं जो भारत में कार्यरत हैं।" यूरोपियनों के दिल में भारतवासियों के प्रति जो घृणा थी, उसके विषय में वह लिखते है—"यह पक्षपात और यह विद्वेष एवं घृणा सभी विजेता राष्ट्रों की आदत में शुमार है और यह पाप उनको घेरे रहता है। स्पार्टावालों ने हेलट को, प्राचीन रोमन पैट्रिशियनों ने प्लीबियनों को, उत्तरकालीन रोमनों ने लैटिनों और इटैलियनों को, अमेरिकनों और वेस्ट इंडियन प्लान्टरों ने नीग्रो और चीनी लोगो को दास बनाया। हमारे देश में बड़ी जातियों ने सभी आदिवासियों को पैरों तले कुचला और कठोरता से उनका दमन किया, लेकिन बाद में इसकी प्रतिक्रिया हुई और उन्हें इसका भयानक बदला मिला। ब्रिटिश जनता ने अनाधिकार रूप से एक उच्च जाति का प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया है। अब ब्रिटिश लोग अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों के लिए शोर मचा रहे है तथा विजित प्रजा के प्रति घृणा प्रदर्शित कर रहे है—यह इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र है।"

ब्रिटिशों की इस मनोवृत्ति की व्याख्या करने के बाद उन्होंने तर्क दिया कि ब्रिटिश शासकों ने इस देश का बहुत हित किया है-जैसा कि मुसलमानों और पुर्तगालियों ने कभी नही किया। ब्रिटिश शासन की इन अच्छाइयों ने ही उसे वांछनीय बना दिया है। राष्ट्रीय विचारों के नेता यह बात सबसे अधिक और अच्छी तरह समझते हैं कि हमारे देश को ब्रिटिश संरक्षण की आवश्यकता है। लेकिन यह सरक्षण हम पशुबल से नहीं बल्कि समान कानून से चाहते हैं। इस परिच्छेद में एक इशारा है कि यदि भारत में अंग्रेज कानून के सामने समानता के सिद्धान्त के अनुसार काम नही करेंगे और न्यायालयो में अंग्रेजों का पक्षपात करेंगे तो शासन में केवल पशुबल आएगा और तब भारतवासियों को उनके आगे सिर झुकाने की कोई आवश्यकता नही होगी। केवल बल घृणास्पद है। उन्होंने कहा, "25 करोड की आबादी वाले देश को कोई भी बलप्रयोग द्वारा, सदा-सदा के लिए दबा नही सकता। भगवान की कृपा से कभी न कभी ऐसा समय अवश्य आएगा जब ब्रिटिश राष्ट्र के उदाहरण और अनुशासन से प्रोत्साहन पाकर इस देश के लोग स्वशासित राष्ट्र का दर्जा प्राप्त कर लेंगे और इंग्लैंड से मित्रता रखते हुए अपने मामलों को स्वयं ही सुलझाना सीख लेंगे। अधिकार हस्तान्तरण तो अवश्यम्भावी है।" भारत में अंग्रेजों के इल्बर्ट बिल आन्दोलन ने रानडे मे ऐसी-ऐसी बातें कहलवा ली जो उन्होंने पहले कभी नहीं कहीं थी। अब वह ब्रिटिश राज्य की विशुद्ध प्रशंसा नही करते थे। उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा कि चाहे सुदूर भविष्य में ही हो, भारत इस वर्तमान शासन मे सशस्त्र संघर्ष के बिना ही स्वतन्त्र हो जाएगा।

'इल्बर्ट बिल' की घटना मे यह पता चला कि अंग्रेज भारतवासियों के बराबरी के किसी भी दावे का मिलकर और संगठित

होकर पूर्ण विरोध करेंगे। लेकिन उनके ऐसा करने पर भी रानडे को संवैधानिक पद्धति की ओर से निराशा नहीं हुई। उन्होंने एक ओर शासन में रहने वाले अंग्रेजों के बीच भेद करना शुरू कर दिया। उन्होंने कंजरवेटिव पार्टी और लिबरल पार्टी में भी भेद किया। अब उनकी समझ में आ गया था कि राजनीतिक रूप से प्रगति करने के लिए संघर्ष करना पड़ेगा और उन्होंने यह भी कल्पना कर ली कि यह संघर्ष इन दोनों वर्गों के बीच में होगा, जो एक दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न हैं। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों और इंग्लैंड की लिबरल पार्टी का एक दल होगा और दूसरा दल भारत में रहने वाले अंग्रेजों और इंग्लैंड की कंजरवेटिव पार्टी का होगा। सन् 1885 में उन्होंने लिखा, "भारतीय अधिकारी वर्ग यह सोचकर कि वह इंग्लैंड की एक शक्तिशाली पार्टी यानी कंजरवेटिव पार्टी के ओर उसके महान सिद्धान्तों के अग्रिम रक्षक हैं, अपने आपको शक्तिशाली समझते है। भारतवासियों को इंग्लैंड की लिबरल अथवा कंजरवेटिव पार्टियों में से किसी एक को चुनना पडेगा। इस देश के लोग केवल दर्शक बन कर दूर खड़े नहीं हो सकते। हमारी जनता की जो भी राजनीतिक प्रगति हुई है, वह यहां की सरकार के द्वारा नहीं, बल्कि इंग्लैंड के लोकमत के द्वारा हुई है। यह बात वहां के पार्टी संगठन और हर पार्टी का एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने तथा दूसरी पार्टी से बढ कर होने और उसे बदनाम करने की आकांक्षा से स्पष्ट प्रकट होती है। "सन् 1858 से, जब से महान भारतीय प्रश्नों पर सीधे इंग्लैंड से ही कार्रवाई होने लगी, तब से दोनों पार्टियों के प्रतिनिधियों के भिन्न-भिन्न विचार पूर्ण रूप मे स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। पिछले दस वर्षों के अन्दर ही उनमें जो भारत में अंग्रेजों के हितों को ध्यान में रखकर राज्य करना

चाहते हैं और जो भारत के हितों को ध्यान में रखकर राज्य करना चाहते हैं, उनमे जो जातीय श्रेष्ठता और पृथकता को बनाए रखना चाहते हैं और उनमें जो उसे कम करना चाहते हैं–विरोध पैदा हो गया है। यह एक तथ्य है, जिसे कोई देशी विचारक भूल नही सकता।" रानडे को यह समझने में देर न लगी कि इंग्लैंड की लिबरल पार्टी चाहती है कि भारत की राजनीतिक उन्नति हो तथा वह धीरे-धीरे स्वतन्त्रता और बराबरी का दर्जा हासिल करे। रानडे के वेडरबर्न, ए. ओ. ह्यूम तथा री आदि उदार-विचारो वाले अंग्रेज मित्रों से ही यह सब मालूम हुआ और उनके ये विचार उनसे उनके व्यक्तिगत परिचय पर आधारित थे। वास्तव में यह बात दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा अन्य बडे-बडे राजनीतिज्ञ अपने अनुभव के आधार पर पहले से ही समझते थे और उनका भी यही विचार था। यह समझ कर कि भारतवासियों की राजनीतिक उन्नति इंग्लैंड के लोकमत पर निर्भर है, भारतीय राजनीतिक संस्थाओं ने ब्रिटिश चुनावों के समय कुछ अपने प्रवक्ता भेजे। सन् 1880 में लालमोहन घोष और 1885 में मनमोहन घोष, एम. जी. चन्दावरकर और एस. राम स्वामी मुदलियर ब्रिटिश मतदाताओं को भारतीय समस्याओं के विषय में समझाने के लिए गए। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों में ब्राइट, ब्राडलाफ और फॉसेट आदि अधिकतर लोग भारत के मित्र थे और लिबरल पार्टी के सदस्य थे। कंज़रवेटिव पार्टी का तो शायद कोई भी नही था। इसके अतिरिक्त प्रतिनिधि मूलक संस्थाएं बनाने की भारत की मांग तथा यह इच्छा कि भारत के हित का ध्यान रखकर ही ब्रिटिश लोग भारत में राज्य करें और अंग्रेजों के हित को नहीं, ये दोनों ही बातें लिबरल पार्टी के सिद्धान्तों से मेल खाती थी। लिबरल राजनीतिक विचार भारतीय

राजनीतिक नेताओं के लिए प्रेरणा के स्रोत थे। सन् 1873 में रानडे ने ब्रिटिश पार्लियामेंट के लिए लिबरल पार्टी के एक सदस्य के चुनाव के लिए सार्वजनिक सभा से कुछ धन भिजवाया। अब रानडे तथा अन्य भारतीय नेताओं को पूर्ण विश्वास हो गया था कि भारत को ब्रिटिश राज्य से जो भी लाभ होगा वह ब्रिटिश लिबरल पार्टी के द्वारा ही होगा।

अध्याय 13

कांग्रेस में भूमिका

उन्नीसवी शताब्दी की आठवीं दशाब्दी में देश के विभिन्न भागों मे कई संस्थाएं बन गई थी। उनमें से कुछ ये थी–'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन और 'इंडियन एसोसिएशन' कलकत्ता। 'बम्बई एसोसिएशन' की जगह बनी 'बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' बम्बई, सार्वजनिक सभा पूना और महाजन सभा मद्रास। परन्तु इनमें से एक भी संस्था अखिल भारतीय आधार पर नहीं बनी थी। लेकिन जिन समस्याओं पर इन संस्थाओं में विचार होता था वे अवश्य अखिल भारतीय महत्व के होते थे। इसलिए यह अनुभव किया गया कि एक राष्ट्रव्यापी राजनीतिक संस्था अवश्य बननी चाहिए। इस समय तक पूरे देश में रेलों का जाल बिछ चुका था और सभी नगर रेलों द्वारा जुड़ गए थे। सन् 1877 के दिल्ली दरबार में जिन भारतवासियों ने भाग लिया जैसे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जमशेदजी भाई, विश्वनाथ एन. मंडलीक और नौरोजी फरदूनजी आदि ने अनुभव किया कि अखिल भारतीय कांफ्रेंसों और संस्थाओं का आयोजन और संगठन होना चाहिए। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने पहले ही सन् 1876 में कलकत्ता में 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना कर ली थी और यह सोचा था कि वही अखिल भारतीय आन्दोलन का केन्द्र बनेगी। भारतीय उम्मीदवारों की आई. सी. एस. परीक्षा के लिए अधिकतम आयु सीमा कम करने के प्रश्न को इस संस्था में उठाया गया। अंग्रेजी सरकार ने आयु सीमा केवल इसलिए कम कर दी थी जिससे भारतीयों के लिए आई. सी. एस. परीक्षा के दरवाजे बन्द हो जाएं। सुरेन्द्रनाथ ने कहा कि सिविल सर्विस आन्दोलन का मूल आशय

और असली लक्ष्य भारतवासियों के अन्दर एकता और भाईचारे की भावना जागृत करना है। अपने इस लक्ष्य के लिए समर्थन प्राप्त करने के लिए सुरेन्द्रनाथ ने उत्तरी और पश्चिमी भारत का दौरा किया और सभी मुख्य-मुख्य नगरों में लाहौर से वाराणसी तक और अहमदाबाद से पूणे तक गए। पूणे में वह रानडे के घर ही ठहरे थे। उनके इस मिशन की अच्छी प्रतिक्रिया हुई। भारतवासियों के हितों और स्वाभिमान पर जब और भी अधिक आघात किए गए तब अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन बनाने की आवश्यकता मालूम हुई। ब्रिटिश कपड़ा व्यापारियों के आग्रह पर सन् 1877 में सूती कपड़े के आयात पर से कर हटा दिया गया जिससे भारतीय व्यापारी और उद्योगपति वर्ग को भारी हानि हुई। अपराधों के लिए दण्ड देने में जाति भेद की भावना दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही थी। इल्बर्ट बिल विवाद से यह स्पष्ट हो गया था कि जाति भेद भी सरकार की नीति का एक अंग है, इस विवाद में, भारत में रहने वाले अंग्रेजों की विजय ने भारतवासियों को यह दिखला दिया कि संगठित आन्दोलन का क्या महत्व है। शिक्षित भारतवासियों के साथ-साथ कुछ निष्पक्ष स्वभाव के अंग्रेज भी थे, जो यह महसूस करते थे कि इन नीतियों का कड़ा विरोध होना चाहिए। उनमें से दो विलियम वेडरबर्न और ए. ओ. ह्यूम थे। ह्यूम भारत में एक उच्च पद पर ब्रिटिश अफसर के रूप में काम कर चुका था, सन् 1882 में उसने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया था और शिमला में बस गया था। वह शिक्षित भारतीयों से देश सेवा में अपने आपको लगा देने की अपील किया करता था तथा स्वतन्त्रता और आनन्द प्राप्त करने के लिए त्याग और निःस्वार्थ भाव की आवश्यकता पर जोर देता था। उसके कहने का लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसके प्रेरित

करने पर ही, "इंडियन नेशनल यूनियन" बनाई गई। मार्च सन् 1885 में यूनियन ने सभी प्रान्तों के अग्रगण्य राजनीतिज्ञों को, दिसम्बर के महीने में पूणे में होने वाली, 'इंडियन नेशनल यूनियन की कांफ्रेंस में भाग लेने के लिए भेजा। लेकिन बाद में पूणे में हैजा फैल गया, जिसके कारण यह कांफ्रेंस बम्बई में हुई। इसी बीच सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की 'इंडियन एसोसिएशन' कलकत्ता तथा दो अन्य संस्थाओं ने भी स्वतन्त्र रूप से इसी प्रकार के निमंत्रण कलकत्ता में होने वाली 'नेशनल कांफ्रेंस' के लिए भेजे। इन निमंत्रणों को रद्द नहीं किया जा सकता था, क्योंकि बहुत देर हो चुकी थी। इसीलिए कलकत्ता में भी कांफ्रेंस हुई। दोनों कांफ्रेंसों में एक समान शिकायतों और आकांक्षाओं पर बातचीत हुई। दूसरे साल में दोनों कांफ्रेंसों के नेता एक ही संगठन में काम करने लगे। बम्बई की बैठक में संगठन का नाम 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' रखा गया। बहत्तर प्रतिनिधियों तथा अनेक अतिथियों ने उसमें भाग लिया।

सरकारी नौकर होने के कारण रानडे इस संगठन से संलग्न नहीं हो सकते थे। लेकिन उन दिनों सरकार ने अपने अफसरों को ऐसे मामलों में बहुत छूट दे रखी थी। इसके अतिरिक्त कांग्रेस के आरम्भिक दिनों में उसकी राजनीति सरकार के लिए असहनीय नहीं थी। बहुत से अंग्रेज अफसर उसे नापसन्द करते थे परन्तु ऐसा नहीं कि उसको बिल्कुल समाप्त ही कर दिया जाए। कुछ निष्पक्ष व्यक्ति जिसमें वायसराय लार्ड डफरिन सम्मिलित थे, इस कार्य को पसन्द करते थे एवं उसमें अपना योगदान भी देते थे। लेकिन दर्शक के रूप में उन्हें वहां जाने की आज्ञा थी और वह सभी प्रकार के अनौपचारिक विचार-विमर्श में भाग भी ले सकते

थे। पश्चिमी भारत के सभी प्रतिनिधि पूणे के डब्लू. एस. आप्टे और जी. जी. आगरकर, बम्बई के दादाभाई नौरोजी, के. टी. तेलंग, फिरोजशाह मेहता, डी. ई. वाचा, वी. एम. मालावारी तथा एन. जी. चन्दावरकर और पूणे तथा बम्बई के समाचार पत्र-सम्पादक रानडे के मित्र थे और सार्वजनिक कार्यों में उनके घनिष्ठ सहकर्मी थे। वे सब उनका बहुत आदर करते थे। ह्यूम ने, जो सन् 1884 और 1885 में कांग्रेस का संगठन करने के लिए पूणे आया था, कहा था, कि रानडे एक असाधारण व्यक्ति हैं, जो अपने देश के हित के लिए निरन्तर विचार और कार्य करते रहते हैं और मैं उनकी बहुत इज्जत करता हूं। सब से पहली क़ांफ्रेंस के लिए बम्बई के बदले पूणे को चुना गया था। इसी से मालूम होता है कि आयोजकों के ऊपर रानडे का कितना प्रभाव था। रानडे के अतिरिक्त, पूणे में ऐसा कोई नहीं था जो बम्बई के महारथियों की बराबरी कर सकता। कहा जाता है कि जिस समय बम्बई की कांफ्रेंस में इस विषय पर विचार हो रहा था कि नए संगठन का क्या नाम रखा जाए? नेशनल यूनियन, नेशनल कांफ्रेंस, नेशनल लीग, नेशनल एसेम्बली या नेशनल कांग्रेस, तो उस समय रानडे ने जो नाम सुझाया था, वही नाम रखा गया था। पहली कांग्रेस के प्रस्ताव एल्फिस्टन कालेज के प्रिंसिपल वड्सवर्थ के निवास स्थान पर एक प्राईवेट मीटिंग में निश्चित किए गए थे जिसमें सर विलियम वेडरबर्न, रानडे, तथा आगरा प्रान्त के राय बहादुर लाला बैजनाथ आदि अफ़सरों ने भाग लिया था। रानडे ने तो उसके खुले अधिवेशन

में भी भाग लिया। हां, यह अवश्य हुआ कि उनका भाषण रिकार्ड में नहीं रखा गया। श्री आर. एम. साने अपने संस्मरणों में लिखते हैं कि जिस समय 'इंडियन कौंसिल' का उन्मूलन करने के विषय में विचार हो रहा था तो रानडे ने एक वक्तव्य में एक गलती महसूस की। वह सभा के बीच में ही अपनी कुर्सी से उठे और उस गलती को सही करा दिया। वह उस विषय में इतने तल्लीन हो गए थे कि यह भूल ही गए कि सरकारी तौर पर मीटिंग में बोलना उनके लिए मना है। कांग्रेस में रानडे की स्थिति महत्वपूर्ण थी, इसी कारण सन् 1895 में उन्होंने पूणे में कांग्रेस की अध्यक्षता ग्रहण करने के लिए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को तार भेजा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि, "मैंने उसी दिन प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए धन्यवाद सहित रानडे के तार का उत्तर दे दिया।....पश्चिमी प्रेसीडेंसी के सभी सार्वजनिक आन्दोलनों के पीछे रानडे का हाथ था। वह जनता के सेवक तथा सरकार के प्रति निष्ठावान थे। उनकी निष्ठा ऐसी सच्ची निष्ठा थी जो न तो व्यक्तिगत कारणों से उत्पन्न हुई थी और न क्षणिक आवेगों के कारण ही, बल्कि उसकी जड़ें औचित्य और सार्वजनिक हितसाधन के उच्च आदर्शों में जमी हुई थी। पश्चिमी प्रेसीडेंसी के लोगों के लिए वह मार्गदर्शक थे, दार्शनिक थे और मित्र थे। सभी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों पर उनके उत्कृष्ट व्यक्तित्व की छाप रहती थी।"
पहली कांग्रेस के तुरन्त बाद मनमोहन घोष, आर. मुदलियार और एन. जी. चन्दावरकर का एक प्रतिनिधिमंडल इंगलैंड के लिए रवाना हुआ। वह अपने साथ एक घोषणा-पत्र ले गया, जिसका

शीर्षक था, "अंग्रेज निर्वाचकों से भारत की अपील।" इसका अधिकांश भाग रानडे ने ही लिखा था। इन सब तथ्यों और घटनाओं से स्पष्ट है कि 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' के संस्थापकों में से एक रानडे भी थे, यद्यपि सरकारी रिकार्डों में इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं है।

रानडे को कांग्रेस में भाषण देने की आज्ञा नहीं थी, इसलिए कार्रवाई से यह अनुमान लगाना कठिन है कि राजनीतिक घटनाओं के विषय में उनकी क्या प्रतिक्रिया होती थी। लेकिन वह कांग्रेस की सभी सभाओं में जाते थे और सम्बन्धित नेताओं को व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग अपने विचारों से अवगत कराते थे। इसी से पता चलता है कि वह कांग्रेस के उद्देश्यों और लक्ष्यों के प्रति निष्ठावान थे और उसके प्रस्तावों से सहमत थे। जैसा कि सबको मालूम है, कांग्रेस के उद्देश्य थे देश के सभी भागों के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के बीच व्यक्तिगत आत्मीयता और मित्रता की भावना जागृत करना, राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित करना, सामाजिक प्रश्नों पर शिक्षित वर्ग के विचारों को लेखबद्ध करना तथा आगामी वर्ष में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के काम करने की दिशा निर्दिष्ट करना। उन प्रारम्भिक वर्षों में जो प्रस्ताव पास किए गए उनमें मुख्य थे इंडियन कौंसिल के उन्मूलन की मांग, इंडियन और प्रोविंशल लेजिस्लेटिव कौंसिलों में कुछ चुने हुए सदस्यों के प्रवेश तथा उनके अधिकारों में वृद्धि की मांग तथा आई. सी. एस. परीक्षाएं भारत और इंग्लैंड में एक साथ आयोजित करने और उनमें बैठने की भारतीय परीक्षार्थियों की अधिकतम आयु को बढ़ाने की मांग। रानडे पिछले कई वर्षों से इन मांगों के समर्थन में लिख भी रहे थे और बोल भी रहे थे।

रानडे चाहते थे कि देश के सभी भागों के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के वार्षिक अधिवेशन में केवल राजनीतिक क्षेत्र के कार्यों पर ही नहीं, बल्कि सामाजिक सुधार और आर्थिक विकास के क्षेत्रों के कार्यों पर भी विचार-विमर्श होना चाहिएं। बम्बई में कांग्रेस की पहली बैठक में ही उन्होंने 'इंडियन सोशल कांफ्रेंस' का अधिवेशन हर वर्ष करने के पक्ष में समर्थन प्राप्त कर लिया। और सन् 1887 में मद्रास में कांग्रेस अधिवेशन समाप्त होने के तुरन्त बाद कांग्रेस के ही पंडाल में उसका पहला अधिवेशन हुआ। कुछ वर्षों तक इसी प्रकार की कार्य पद्धति चलती रही। बहुत से प्रतिनिधि और दर्शक वार्षिक-सामाजिक कांफ्रेंस में भाग लेने के लिए ठहर जाते थे, जिसमें रानडे जैसे सरकारी कर्मचारियों को भी भाग लेने की पूर्ण अनुमति थी। आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक विकास के लिए एक संस्था की आवश्यकता थी। रानडे ने ह्यूम को पत्र लिखकर पूछा कि क्या कांग्रेस के आयोजकों को यह काम भी अपने हाथ में लेने के लिए प्रेरित किया जा सकता है? ह्यूम को इसमें सन्देह था। तब रानडे ने जी. वी. जोशी, जवेरीलाल और डी. ई. वाचा की सहायता से स्वतन्त्र रूप से *'इंडस्ट्रियल एसोसिएशन आफ वेस्टर्न इंडिया,'* की स्थापना की। सन् 1890 में सब से पहली औद्योगिक कांफ्रेंस पूणे में हुई।

वार्षिक सामाजिक सम्मेलनों में रानडे ने जो भाषण दिए, उनसे हमें उनके राजनीतिक दर्शन का पता चलता है। यद्यपि रानडे कानून बनाने और सरकार की नीतियां बनाने मे भारत-वासियों को अधिक भाग और अधिकार दिलवाने के लिए प्रयास कर रहे थे–संघर्ष कर रहे थे, लेकिन साथ ही वह अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध बनाए रखने के पक्ष में भी हिमायत करते थे।

उनके साथ सम्बन्ध को वह दैवीकृपा समझते थे। ईश्वर के विधान पर उन्हें बहुत विश्वास था। उनका कहना था कि "ईश्वर की कृपा से ही भारत में मुसलमानों का राज्य हुआ। उसके परिणाम स्वरूप हिन्दू और मुसलमानों के विचारों का आपस में आदान-प्रदान हुआ और इससे दोनों ही समुदायों को लाभ हुआ।" उन्होंने कहा कि, "हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में ही व्यवस्था और नियमित सत्ता के प्रति प्रेम जैसे सद्गुणों का अभाव है। दोनों में नागरिक स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम नहीं है, नागरिक जीवन के लिए आवश्यक गुण नहीं है, और मशीनों के प्रयोग की योग्यता नहीं है। उनमें विज्ञान और शोध के प्रति प्रेम का अभाव है, साहसिक खोजों के प्रति प्रेम का अभाव है, कठिनाइयों का सामना करने के लिए दृढ़ संकल्प का अभाव है और स्त्री जाति के प्रति आदर और सम्मान का अभाव है। हिन्दू या मुसलमान कोई भी पुरानी सभ्यता इस परिस्थिति में नहीं है कि भारतीय जातियों को इन सद्गुणों की शिक्षा दे सकें और उन्हें पश्चिमी यूरोप की बराबरी पर लाकर खड़ा कर सकें। इसलिए शिक्षा के काम का नवीकरण किया गया और अब यह पिछली शताब्दी से निरन्तर ब्रिटेन की सहायता से चल रहा है, जिसका परिणाम हम सब प्रत्यक्ष रूप से देख रहे है।"

भारत के राजनीतिक विकास को प्राथमिकता दी जाए अथवा उसके सामाजिक सुधार को, इस विषय को लेकर बड़ी जोरदार बहस छिड़ गई। एक ओर के अतिवादी विशेष रूप से अंग्रेज अफसर यह चाहते थे कि भारतीय केवल समाज सुधार के कामों में ही व्यस्त रहें और राजनीति से अलग रहें। दूसरी ओर के अतिवादी जिनका प्रतिनिधित्व तिलक करते थे, यह चाहते थे कि भारतीय केवल राजनीतिक विकास पर ही ध्यान दें और

समाज सुधार की समस्या को छोड़ दें। सभी राष्ट्रीय विकास के नाम पर बोल रहे थे। लेकिन अपने गहन विचारों के आधार पर रानडे ने दोनों समस्याओं को बराबर महत्वपूर्ण समझा। सन् 1900 में उन्होंने कहा, "यदि राजनीतिक अधिकारों के स्तर में हम अपने आपको दूसरों से नीचे पाएंगे तो कभी अच्छा सामाजिक ढांचा नहीं बना पाएंगे और साथ ही अगर आपकी सामाजिक व्यवस्था तर्क और न्याय पर आधारित नहीं होगी तो आप राजनीतिक अधिकारों और विशेषाधिकारों से लाभ उठाने के योग्य नही होंगे।" दोनों ओर के अतिवादियों को रानडे ने यही उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के सुधारों का काम एक साथ ही चलना चाहिए। इन सब बातों से अंशतः यह पता चलता है कि रानडे भारत की स्वतन्त्रता की मांग को कुछ और समय तक स्थगित क्यों रखना चाहते थे। जब समाज व्यवस्था ही अन्याय से परिपूर्ण हो तो स्वतन्त्र लोकतन्त्र की सफलता की आशा कैसे की जा सकती थी।

रानडे को भारत के महान राजनीतिक भविष्य में विश्वास था। इसी विश्वास ने उन्हें ये सब सार्वजनिक काम करने को प्रेरित किया। उन्होंने कहा, "स्वतन्त्र व्यक्तित्व, उल्लासपूर्ण आशा, कर्तव्यपालन में अटूट विश्वास, सब के साथ निष्पक्ष न्याय करने की भावना, स्वच्छ और परिष्कृत विचार और सब के लिए असीम प्रेम-जब ये सद्गुण हममें आ जाएंगे, तब भारत नया हो जाएगा, पुनर्जीवित हो जाएगा और संसार के राष्ट्रों के बीच उचित स्थान प्राप्त करेगा तथा परिस्थिति और अपने भाग्य का विधाता बनेगा। हमें इसी लक्ष्य को प्राप्त करना है। यही हमारी प्रतिज्ञा है। जो लोग ऐसे भविष्य के स्वप्न देखते हैं वे भाग्यशाली

है, जो लोग उस स्वप्न को साकार करने के लिए कार्यरत हैं और लक्ष्य को प्राप्त करने का रास्ता साफ कर रहे हैं वे उनसे भी अधिक भाग्यशाली हैं, और सब से अधिक भाग्यशाली वे हैं, जो उस साकार स्वप्न को अपनी आंखों से देखने और देश की पवित्र भूमि पर अपने पैर रखने के लिए जीवित रहेंगे। और तब दुर्भिक्ष और महामारी, दमन और कष्ट पुराने जमाने की कहानियां बन कर रह जाएंगी।

अध्याय 14

गरीबों की चिन्ता

(1878–1893)

रानडे अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। वह समझते थे कि ईश्वर-प्रेम और मानव-प्रेम एक ही चीज है और यही धर्म है। रानडे ने अर्थशास्त्र का अध्ययन आर्थिक तथ्यों का पता लगाने के लिए नही, वल्कि मानव कष्टों को दूर करने के लिए किया। जब वह लोगों को कष्ट भोगते देखते तो उनका दिल रो पड़ता और उनके लिए उनके मन में सहानुभूति उमड़ पड़ती। पुणे पहुंचने पर सन् 1878 में सब से पहले उन्होंने आस-पास के जिलों का आर्थिक सर्वेक्षण किया। उन्होंने गरीबों की समस्याओं का पता लगाया तथा उन आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर जिनका गहन अध्ययन उन्होंने किया था, उनकी जांच की।

अपनी उसी जांच के आधार पर वह जोरदार शब्दों में कहते थे कि "यदि भारतवासी गरीबी से छुटकारा पाना चाहते हैं, तो भारत का औद्योगीकरण करना पड़ेगा। कुटीर उद्योगों की जगह बड़े-बड़े कारखाने लगाने चाहिए, जिससे बहुत लोगों को काम मिल सके और अधिक निर्माण हो सके। इसके लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता होगी। यह धन लोगों को थोड़ा-थोड़ा बचाकर जमा करना चाहिए और इन उद्योगों में लगाना चाहिए।" खेती-बाड़ी के विषय में उन्होंने कहा, सरकार को चाहिए कि वह लोगों के ऊपर पड़ रहे भू-राजस्व के भारी बोझ को कम कर दे।"

उस समय की आर्थिक समस्याओं के विषय में उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से हमें मालूम होगा कि उनके लिए उन्होंने कितना परिश्रम और कितना गहन अध्ययन किया होगा उनकी ये रचनाएं-ये लेख-उनके सरकारी कर्तव्यों के अन्तर्गत नही आते। ये सब अधिकतर बिना नाम के बिना हस्ताक्षरों के ही थे। देश को गरीबी के दलदल से बाहर निकालने के दृढ़ निश्चय ने ही उन्हें ऐसे लम्बे और बड़े लेख लिखने के लिए प्रेरित किया। एक स्थान पर वह कहते हैं कि हमें देश की गरीबी को देखने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। "घर से बाहर निकल कर यदि हम अपनी ही गली में अपनी आर्थिक दशा के ऊपर एक सरसरी नजर डालें तो पाएंगे कि हमारे पास साधनों की कितनी कमी है हममें से लाखों लोग ऐसे हैं जिन्हें एक दिन में दो आने से अधिक नही और लाखों ही ऐसे हैं जिन्हें कभी पेट भर खाना नही मिलता। वे सदा अकालग्रस्त ही रहते हैं और यदि एक बरसात भी बिना बरसे निकल गई तो उनकी हालत और भी खराब हो जाती है और वे धीरे-धीरे मृत्यु के किनारे पहुंच जाते हैं।" उन्होंने भारत की अर्थ व्यवस्था के हर पहलू पर बड़ी गम्भीरता से लिखा और सुधार के लिए सुझाव भी दिए। उन्होंने खेती-बाड़ी, उद्योग, उधार व्यवस्था, सार्वजनिक वित्त, चुंगी की दर, किसानों की कानूनी स्थिति, परदेश-गमन तथा जनगणना के आंकड़े आदि अनेक विषयों पर लिखा। किसी भी विषय पर लिखने से पहले वह विस्तृत रूप से उसका सर्वेक्षण करते, सम्बन्धित लोगों से उसके विषय में जानकारी प्राप्त करते और तब अपने सर्वेक्षण के आधार पर लिखते और कुछ निश्चित और पक्के सुझाव भी देते। उदाहरण के लिए, जब उन्होंने भारत के ग्रामीण ऋण के पुनर्गठन के विषय में लिखा तो

आस्ट्रिया, हंगरी, फ्रांस, इटली, वेल्जियम और स्विट्जरलैण्ड की ऋण व्यवस्थाओं की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का पहले संक्षेप में वर्णन किया और वाद में यह लिखा कि भारत को इन देशों के अनुभवों से क्या शिक्षा लेनी चाहिए। भारतीयों के विदेश गमन के विषय में लिखते हुए सब से पहले उन्होंने लिखा कि मारीशस, नेटाल, जमैका तथा संसार के अन्य सोलह देशों में कितने भारतवासियों ने प्रव्रजन किया और जहाँ वे जाकर बसे उन उपनिवेशों की क्या हालत है। वाद में उन तथ्यों का विश्लेषण करके उन्होंने बतलाया कि भारत से लोगों का, विशेष रूप से स्त्रियों का, *विदेश गमन बढ़ता जा रहा है। अन्त में उन्होंने सुझाव दिया कि* किस प्रकार औद्योगिक कान्फ्रेंस जैसी संस्थाएं इस विषय में उपयोगी कार्य कर सकती हैं।

'सार्वजनिक सभा जनरल' में छपे उनके लेखों और औद्योगिक कान्फ्रेंस में दिए गए उनके भाषणों से पता चलता है कि औद्योगिक क्षेत्र में उन्होंने कितनी रुचि थी और उसमें उन्होंने कितना काम किया। संक्षेप में, देश से गरीबीमिटाने के विषय में उनके निम्नलिखित सुझाव थे; भारत में उद्योगों को प्रोत्साहन देने के हर सम्भव उपाय करने चाहिए। अप्रत्यक्ष रूप से, ऐसा करने से, किसानों को भी लाभ होगा। लेकिन प्रत्यक्ष रूप से उनके रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने के लिए भू-राजस्व कम कर देना चाहिए। दूसरा महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि किसानों को कम ब्याज पर ऋण देने के लिए सगठन स्थापित करना चाहिए। तीसरा सुझाव यह था कि किसानों को लोभी महाजनों के दांवपेंच से बचाने के लिए कानूनी सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। रानडे के शब्दों में, "न्यायिक सुधार, बैंकों से ऋण मिलने की अधिक सुविधाएं और स्थायी बन्दोबस्त की गारन्टी, हमारी

कृषि अर्थव्यवस्था के ये तीन ही तत्व है, जो हमारे देश को वर्तमान दुःखद स्थिति से छुटकारा दिला सकते है।" उन्होने कहा, "देश की स्थायी मुक्ति भारत के उद्योग और व्यापार की वृद्धि पर निर्भर है, इसमें कोई सन्देह नही है। शेष सब उपाय अस्थायी कष्ट निवारक है।" इसके अतिरिक्त "जब कई अथवा बड़े पैमाने पर पूरे देश में फैक्टरियां और मिलें लग जाएंगी तो वर्तमान जडता समाप्त होकर गतिशीलता आ जायेगी जिससे देश में नयी क्रियाशीलता का जन्म होगा।"

"डेकन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ एक्ट" नामक कानून का रानडे ने स्वागत किया, क्योंकि उसमें साहूकारों की चालाकियों से किसानों की सुरक्षा, कानूनी प्रक्रिया को सरल बनाना तथा किसान को ऋण के भार से राहत दिलवाना, ये तीन लक्ष्य निहित थे। इस एक्ट के अन्तर्गत मुकदमों के फैसले करने के लिए जिन दिनों वह 'स्पेशल जज' के रूप में काम कर रहे थे, तब उसको सफल बनाने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। बाद में जब एक्ट के विषय में वाद-विवाद हुआ, तब उन्होंने उसे जारी रखने के पक्ष में दलीलें दी। लेकिन [illegible] पर वह हमेशा यही कहते रहे, कि वह राहत, जिसकी किसानों को अत्यन्त आवश्यकता है, उन्हें तभी मिल सकती है जब भू-राजस्व की नीति अधिक उदार बनायी जाय।

'डेकन एग्रीकल्चुरिस्टस एक्ट' ने अत्यधिक ब्याज वसूल करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया लेकिन यह तरीका नकारात्मक था। लेकिन रानडे ने सुझाव दिया कि किसानों को सस्ता सूद पर दिया जाए—उनका तरीका सकारात्मक था। रानडे ने कहा कि जो स्पेशल बैंक किसानों को अधिक सहायता देने के लिए निश्चित किए गए हैं, उन्हें सरकार द्वारा निर्देश मिलने चाहिए

जानी चाहिए और गारंटी भी दी जानी चाहिए। ये किसान-बैंक कम ब्याज पर छोटे साहूकारों को रुपया उधार दें और फिर ये ही साहूकार नियंत्रित ब्याज की दर पर किसानों को ऋण दें। इसके अतिरिक्त, वे किसान बैंक, जिन्हें गारंटी मिल गई हो, किसानों को सीधे भी रुपया उधार दे। इस योजना के लिए सरकार को धन की आवश्यकता होगी, वह धन जनता से उधार लिया जा सकता है। "यदि भारतीय पूंजीपति (जितना धन किसानों को चाहिए) वह सब देने में असमर्थ हों, तो इंग्लैंड में बहुत धन है—वहां से लिया जा सकता है।" इन विशेष बैंकों के साथ-साथ उन्होंने सहकारी बैंक खोलने की भी हिमायत की।

रानडे के विचार से किसानों को राहत दिलवाने का सब से महत्वपूर्ण उपाय भू-राजस्व में कमी करना और उसे निम्न स्तर पर सदन क लिए स्थिर रखना था, उनके इन विचारों का भारत के ब्रिटिश अफसरों ने विरोध किया। रानडे ने सन् 1881 में लिखा, "पिछले पन्द्रह वर्षों से हम वर्तमान पद्धति की असफलता के विषय में सरकार का ध्यान आकर्षित करते आ रहे हैं तथा उसे सुझाव दे रहे हैं कि इसका उपाय केवल भूमि का स्थायी बन्दोबस्त ही है। इस उपाय के सामने अन्य सब उपाय महत्वहीन हैं।" सरकार की भू-राजस्व की नीति यह थी कि, सारी भूमि की मालिक सरकार है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार अपनी इच्छानुसार जितना भी चाहे उतना लगान किसान से वसूल करने की हकदार थी। किसानों से भू-राजस्व जमीन के किराये के रूप में मालिक की हैसियत से सरकार वसूल करती थी, यह जमीन के मालिक से टैक्स के रूप में नहीं लिया जाता था। टैक्स के मान्यता प्राप्त नियम यहां लागू नहीं होते थे। जितना भी भू-क्षेत्र सरकार के अधिकार में था, उसकी केवल वही एक-

छत्र मालिक थी। वह अधिक से अधिक दर पर भू-राजस्व लगा सकती थी और वसूल कर सकती थी। रानडे का कहना था कि वह अत्यधिक भू-राजस्व पहले से ही वसूल कर रही है। जहां ज़मीदार स्वयं भूमि के स्वामी हैं, वहां उनमें आपस में प्रतिस्पर्धा होती है और इससे भू-राजस्व सीमा से अधिक नही बढ़ पाता। लेकिन भारतीय पद्धति में भू-राजस्व कम होने की कोई गारंटी नही है, क्योंकि पूरी भूमि पर शासन का एक छत्र अधिकार है। निरन्तर बढ़ते हुए भू-राजस्व पर कोई रोक न होने के कारण वह इतना बढ़ा कि सीमा को पार कर गया जिसे देखकर अब सरकार को भी लज्जा आती है।" सरकार को सम्पूर्ण भूमि के स्वामित्व के सिद्धान्त को छोड़ देना चाहिए तथा जो बढ़ी हुई राजस्व की दरें हैं, जो किसान के लिए अत्यन्त हानिकारक हैं, उन्हें कम करे, किसान के लिए यह गारंटी देनी चाहिए कि अब भविष्य में उन्हें नहीं बढाया जाएगा। उसे यह सोचकर कि राजस्व कम हो जायगा, ऐसा करने में आनाकानी नही करनी चाहिए, क्योंकि जिन्स के रूप में ऐसा स्थायी भूमि बन्दोबस्त निर्धारित करने से, जो लम्बे अन्तरालों के बाद मूल्यों में स्थायी परिवर्तन के अनुसार धन में बदला जा सके उससे सरकार को अपने न्यायपूर्ण हक के थोड़े से भाग की भी हानि नही हो सकती। ऐसी स्थायी भूमि व्यवस्था से देश में अन्य अनेक साधन विकसित हो जाएंगे, जिनके द्वारा दूसरे टैक्सों से और भी अधिक धन मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त, एक और भी लाभ होगा, "रैयत और मध्यमवर्गीय लोग अपनी ज़मीन को अपनी जायदाद के रूप में समझने लगेंगे। स्वामित्व की ऐसी गारंटी के बिना प्रजा (रैयत) की दशा सुधारने के प्रयत्नों से कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता।" "विज्ञान और अनुभव के आधार पर खेती-बाड़ी

और पशुपालन में जो भी सुधार किए जाएंगे, उनके लिए बहुत धन खर्च करना पड़ेगा। सम्पत्ति का जादू ही लोगों को इतना धन करने की प्रेरणा दे सकता है। जब तक किसानों को भूमि पर पूर्ण स्वामित्व का अधिकार नहीं होगा, तब तक कुएं खुदवाने या खाद डलवाने या नदियों पर बांध बनवाने के लिए न तो प्राइवेट साहूकार और न ज्वाइंट स्टाक भूमि बैंक ही धन उधार देंगे।" "भूमि पर शासन का एकाधिकार और उसका मनमाना कर निर्धारण करने का अधिकार ये दो मुख्य रुकावटें हैं जो हमारे देश की उन्नति में बाधक हैं।" रानडे ने स्पष्ट रूप से सुझाव दिया कि, "कृषक समस्या को हल करने का केवल एक ही उपाय है और वह यह कि भूमि से उत्पन्न अनाज पर स्थायी रैयतवारी व्यवस्था की जाय और हर बीस या तीस वर्षों के बाद उसका मूल्य रुपयों में परिवर्तित कर दिया जाय।"

सन् 1872 में ही रानाडे ने जनता के सामने भारतीय विदेशी व्यापार की एक निराशाजनक रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि हम भारत से विदेशों को कच्चा माल भेजते हैं और तैयार माल विदेशों से मंगाते हैं। यह बड़ी निराशा की बात है, क्योंकि इससे औद्योगिक रूप से भारत के अत्यन्त पिछड़ेपन का आभास होता है और इसीलिए वह अत्यन्त गरीब है। इसलिए सब से पहले भारत में औद्योगिक विकास होना चाहिए। अब रानडे ने एक ओर तो जनता में औद्योगीकरण के लिए उत्साह पैदा करना आरम्भ कर दिया और दूसरी ओर उसके लिए सरकार से प्रोत्साहन और सहायता प्राप्त करने के लिए बातचीत शुरू कर दी। 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' राजनीतिक संस्था थी। वह चाहते थे कि उसके वार्षिक अधिवेशन के समय उसके सदस्य समाज सुधार और औद्योगिक विकास के विषय में भी

बातचीत करें। थोड़े ही दिनों बाद, कांग्रेस के ही पंडाल में वह 'इंडियन सोशल कान्फ्रेंस' की बैठक आरम्भ करने में सफल हो गए लेकिन इंडियन इन्डस्ट्रियल कान्फ्रेस की बैठक आरम्भ नही करवा पाए। फिर भी सन् 1890 में पश्चिमी भारत की औद्योगिक संस्था' का गठन तो उन्होंने कर ही लिया। सन् 1890 में रानडे ने लिखा संसार के दूसरे देशों से हमारे सम्पर्क और स्वतन्त्र आदान-प्रदान का परिणाम अच्छा नही हुआ। इससे हमारे देश में गरीबी और भी अधिक बढ़ गई और उन्होंने हमें कृषि जैसे अस्थिर और अकेले साधन पर पहले से कहीं अधिक निर्भर कर दिया। देश का उद्योग और व्यापार अब हमारे हाथों से निकलता जा रहा है। हजारों कलाएं और उद्योग हमारे देशवासियो को कपड़ा, खाना, गर्मी, धुलाई, रोशनी, सहायता और आराम दे रहे हैं, परन्तु उनके संचालन पर से उसके सपूतों का अधिकार दिन प्रति दिन घटता चला जा रहा है। समुदाय में आर्थिक कार्यकलापों के समन्वय का मतलब है कि कृषि, उद्योग और वाणिज्य-व्यापार में काम करने वालों की संख्या उचित अनुपात में हो। जब इन तीनों का उचित और सही समन्वय होता है तभी देश में उन्नति होती है। पिछले कुछ वर्षो से इस अनुपात में गड़बड़ हो गई है। उद्योग-धन्धों की हालत खराब हो जाने के कारण अधिकतर लोग खेती-बाड़ी पर ही निर्भर हो गए हैं। केवल औद्योगीकरण से ही उचित अनुपात कायम रह सकता है और वर्तमान समय में औद्योगीकरण का अर्थ है बड़े उद्योगों का विकास, छोटे उद्योगों या हस्तशिल्प का नहीं।

सतर्क और शंकालु लोगों ने कई आपत्तियां उठाईं। "बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धे आरम्भ करने के लिए क्या पर्याप्त धन उपलब्ध हो सकेगा? जब कोयला और लोहा ही जो बुनियादी

चीजें हैं, अप्राप्य हैं, तो औद्योगीकरण कैसे हो सकता है? जब सरकार ही इस ओर ध्यान नहीं देती तो हम लोग कर ही क्या सकते हैं?" रानडे ने एक-एक करके इन सभी प्रश्नों के उत्तर दिए। एक 'औद्योगिक कान्फ्रेंस' में दिए गए अपने भाषण में बड़े जोश और स्पष्टता से उन्होंने अपने श्रोताओं से कहा, "आप लोग अपने मन से सारी शंकाओं को निकाल कर कठिन परिश्रम करने में मन लगाइए।" "हमें बड़ी लगन से परिश्रम करना है और तब तक निरन्तर करते ही रहना है जब तक सफलता न मिल जाए।"

आज हमें यह बड़ी अजीब-सी बात मालूम होती है कि उस समय रानडे को लोगों से जोर-जोर से तर्क और दलीलें दे देकर उद्योगों में धन लगाने के लिए कहना पड़ता था और सरकार से हर सम्भव तरीके से उद्योगों की सहायता देने के लिए अपील करनी पड़ती थी। लेकिन रानडे के समय में परिस्थितियां आज से पूर्णतया भिन्न थीं। उद्योग के विषय में जनता और सरकार दोनों का रवैया ही आज से बिलकुल भिन्न था। उस समय बहुत कम भारतीय ऐसे थे जो औद्योगिक मामलों में रुचि दिखाते और उनमें पैसा लगाते थे। फैक्टरी लगाना देश के औद्योगीकरण में सहायता करना था और एक तरह से यह जनता की सेवा ही थी। रानडे ने औद्योगिक कान्फ्रेंस का गठन इसीलिए किया था, जिससे वह नए उद्योग-धन्धे आरम्भ करने और उनमें पैसा लगाने के लिए लोगों को प्रेरित कर सकें। इस कान्फ्रेंस का ध्यान उद्योगों को प्रोत्साहन देने के उपायों पर विचार करना था, जिससे देश की गरीबी दूर की जा सके। एक ओर तो अपनी पूरी शक्ति भर, वह लोगों को उद्योगों में धन लगाने के लिए राजी करते और दूसरी ओर भारत में ब्रिटिश सरकार से औद्योगी-

करण के काम में पूरी और सक्रिय सहायता देने के लिए अपनी पूरी योग्यता से बातचीत करते और उससे अपनी बात मनवाने की कोशिश करते। सरकार इस विषय में कुछ भी नहीं करना चाहती थी। इंग्लैंड के शासक वर्ग "मुक्त व्यापार के आर्थिक दर्शन पर चले रहे थे। इसके अनुसार सरकार इसमें कम से कम हस्तक्षेप कर सकती थी या रुचि ले सकती थी। रानडे इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र के पूर्ण विद्वान तो थे ही, उन्होंने उद्योगों में सरकारी हस्तक्षेप के सफल प्रयोग का एक उदाहरण भी देख लिया था। यह था इंडोनेशिया का 'कल्चर सिस्टम' जिसमें वहां की सरकार ने उद्योगों को सहायता दी और सफलता प्राप्त की। उदाहरण के तौर पर उसकी चर्चा करते हुए उन्होंने तर्क दिए और कहा कि भारत सरकार भी बिना कोई अतिरिक्त खर्चा किए ही यहां के आर्थिक विकास के लिए बहुत कुछ कर सकती है। 'कल्चर सिस्टम' लाभकारी फसल उत्पादन को प्रोत्साहन देने और उसे यूरोपीय बाजारों के लिए निजी एजेंसी द्वारा अपने ही दायित्व पर सरकार द्वारा दी गई आर्थिक सहायता से और सरकार के ही संरक्षण में तैयार करके अन्त में एकमात्र ग्राहक के रूप में सरकार को ही बेच देने का सिस्टम या प्रणाली है।" इसी सिद्धान्त को सामने रखते हुए, रानडे ने कहा कि सरकार को सबसे पहले उन उद्योगों को चुनना चाहिए जो देश की उन्नति के लिए महत्वपूर्ण हैं और जिनके लिए भारत में विशेष सुविधाएं उपलब्ध हैं जैसे लोहा, कोयला, चीनी, तेल, ऊनी सामान और चमड़े का सामान आदि। इन उद्योगों को आरम्भ करने के लिए सबसे पहले और सबसे अधिक आवश्यकता धन की है। "धन के अभाव में देश के उद्योग बन्द पड़े हैं। यह राष्ट्रीय आवश्यकता पूरी करने की आशा कोई भी देश अपनी

सरकार से ही तो करेगा।" स्थानीय निकायों या नगरपालिकाओं या विशेष रूप से व्यापार और वाणिज्य के लिए स्थापित की गई समितियों को अपने-अपने क्षेत्रों में उद्योगों के विकास का काम अपने हाथ में लेना चाहिए। सरकारी जमा खातों या पोस्ट आफिस के बचत-खातों में जमा किया हुआ जनता का पैसा सरकार के पास है। यह सारा धन इस समय बेकार ही पड़ा है। इसी में से सरकार को, कम ब्याज लेकर इन समितियों को धन उधार दे देना चाहिए। फिर इन समितियों को चाहिए कि वे कुछ अधिक ब्याज पर वह धन कुशल व्यक्तियों को उधार दे दें। लेकिन सरकार को अपने अफसरों के द्वारा इस धन के भुगतान का इन्तजाम करना चाहिए। सरकार जिन-जिन व्यापारिक संस्थाओं की इस प्रकार सहायता करे, उनके तैयार माल को भी उसे संरक्षण देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, कुछ विशेष मामलों में सरकार को आरम्भिक समय में थोड़े लाभ की भी गारंटी देनी चाहिए, और कभी-कभी किसी-किसी कम्पनी को स्वयं अपने ऋण-पत्र निकालने और रुपया उधार देने में सहायता करनी चाहिए। उद्योग कहां स्थापित किया जाना चाहिए इस बारे में भी सरकार को तकनीकी सलाह देनी चाहिए। इस प्रकार उद्योगों की सहायता करने से लोगों को सरकार के ऊपर विश्वास और भरोसा हो जाएगा और तब वे स्वयं ही उनमें अपनी पूंजी लगाने के लिए तैयार हो जाएंगे।

औद्योगिक कान्फ्रेंस में अपने एक भाषण में उन्होंने सुझाव दिया, "हमें विदेशों से अधिक से अधिक कच्चा माल मंगवाना चाहिए और बदले में तैयार माल बाहर भेजना चाहिए जो देखने में तो कम लेकिन कीमत में अधिक होगा। ऐसा करने में हमारे यहां की कला को प्रोत्साहन मिलेगा और श्रमिक वर्ग को काम। उदाहरण के लिए, तिलहन के स्थान पर तेल, रुई के

स्थान पर सूती कपड़े तथा खलों के स्थान पर कमाया हुआ और तैयार चमड़ा भेजना चाहिए।"

आर्थिक समस्याओं पर उनके भाषणों और लेखों में उपयोगी सुझाव होते थे। उद्योगों को सहायता देने के लिए उन्हें संरक्षण देने का सुझाव उन्होंने कभी नही दिया, यद्यपि वह चाहते थे कि उन्हें संरक्षण मिले, क्योंकि उन्हें मालूम था कि यह संरक्षण उन्हें कभी नहीं मिल सकता। एक बार उन्होंने बहुत तीखेपन से कहा था, "जो सहायता फ्रांस और जर्मनी अपने जहाजरानी व्यापार तथा चीनी उद्योग के लिए कर रहे हैं, वैसी सहायता की आशा हम अपनी सरकार से कभी नहीं कर सकते, न हम उससे यही कह सकते हैं कि सामान्य करों में से ही अनुदान और आर्थिक सहायता दी जाए। हमसे कहा जाता है कि ऐसी सहायता अंग्रेजी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विरुद्ध है। यह सच है या झूठ यह तो मालूम नहीं, परन्तु व्यर्थ के वाद-विवाद में हमें अपना समय और शक्ति बरबाद नही करनी चाहिए, हमें उनकी स्वतन्त्र व्यापार की नीति पर कभी विजय नही मिल सकती।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा, "इन असुविधाओं और सरकार की 'मुक्त व्यापार' की नीति के बावजूद हम जीत सकते हैं।"

भारतीय वित्त व्यवस्था पर उन्होंने ब्रिटिश लिबरल पार्टी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर फॉसेट के विचारों का सहृदयता से समर्थन किया है। फॉसेट के कुछ निष्कर्ष इस प्रकार है : भारत अत्यन्त गरीब है। उसके आमदनी के स्रोत सीमित है, पर खर्चा दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। जिन कारणों से खर्चा बढ़ा है, वे हैं फौज पर अत्यधिक व्यय, अफगान युद्ध और रेलों के कारण हुए सार्वजनिक ऋण का भार। अतिरिक्त कराधान के लिए कोई सही तरीका सुझाना सम्भव नही है। सरकार के सामने केवल दो

ही रास्ते खुले है—एक तो यह कि कर्मचारियों की छंटनी की जाए और दूसरा यह कि मंहगे यूरोपीय कर्मचारियों के स्थान पर सस्ते भारतीय कर्मचारी रखे जाएं। ऐसे समय में जब कि यहां इतनी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, भारत सरकार ने भारत में आने वाले सूती माल पर से ड्यूटी हटा दी। फॉसेट ने ड्यूटी हटाने के लिए सरकार की निन्दा की, क्योंकि ड्यूटी, संरक्षणात्मक नही थी, जैसे कि दावा किया गया था और दूसरी बात यह थी कि ड्यूटी इंग्लैंड के सूती माल के उद्योगपतियों को खुश करने के लिए ब्रिटेन की सत्तारूढ़ पार्टी की इच्छा से हटाई गई थी।

रानडे ने इन बातों को भारत में अंग्रेज अफसरों को समझाने की बहुत कोशिश की, लेकिन उन लोगों ने अपने घमंड और जिद्द के कारण इन पर ध्यान नही दिया। इसके अतिरिक्त, अधिकतर लोग भारत के हित से अधिक इंग्लैंड के हित को महत्व देते थे, इसलिए रानडे के विचारों से सहमत नही हुए। वे अर्थशास्त्र में पारगत थे, इसलिए उन्होंने रानडे के प्रस्तावों को बचकाने कह कर छोड़ दिया। उस समय के आर्थिक सिद्धान्तों, जो एडम स्मिथ, रिकार्डो और मिल जैसे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त थे, के अनुसार शासन आर्थिक मामलों में बिलकुल हस्तक्षेप नही कर सकता था। इसके विपरीत, रानडे (भू-राजस्व नीति को छोड़कर) यही चाहते थे कि सरकार क्रियात्मक रूप से पूरी सहायता करे। इसलिए अब रानडे ने अधिकारी वर्ग की आर्थिक नीति पर प्रहार करने का निश्चय किया और आर्थिक विज्ञान के क्षेत्र तक इस झगड़े को बढ़ा कर ले गए। रानडे ने आरम्भ से अन्तिम विकास तक आर्थिक सिद्धान्त का पूरा सर्वेक्षण कर डाला और फिर कहा कि पाश्चात्य अर्थशास्त्र की

नवीनत्तम विचारधारा के अनुसार जो सुझाव मैंने दिए हैं उन्हीं का समर्थन किया जाता है, जो मेरे विरोधियों ने दिए हैं उनका नही।

सन् 1892 में रानडे ने 'डेकन कालेज' पूणे में भारतीय राजनीतिक अर्थ व्यवस्था विषय को भाषण देने के लिए चुना। अपने भाषण में उन्होंने शास्त्रीय आर्थिक सिद्धान्त की जिस पर भारत सरकार और उसका अधिकारी वर्ग अड़ा हुआ था, भर्त्सना की और उस पर प्रहार किया। उन लोगों का कहना था कि शास्त्रीय अर्थशास्त्र के सत्य भौतिक विज्ञान की भाँति सदा और सर्वत्र सत्य होते है। इसलिए भारत में और इंग्लैंड में दोनों जगह सरकार की नीतियां उसी के अनुसार होनी चाहिए। रानाडे ने कहा कि ये सत्य या नियम कई मान्यताओं पर आधारित है।

जैसे कि हर मनुष्य अपने स्वार्थ साधन में लगा रहता है, और हर व्यक्ति को अपने स्वार्थ का पूरा ज्ञान होता है एवं उसी ज्ञान के अनुसार काम करने की उसमें क्षमता होती है तथा श्रम और पूंजी में पूर्ण प्रवाह होता है। इन मान्यताओं को रानडे ने दो प्रकार से समझाया। सब से पहले उस समय के नवीनतम विचारकों के जो ऐतिहासिक विचारधारा के विचारक कहलाते थे, शब्दों को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा कि सार्वभौमिक मान्यताओं के आधार पर अर्थशास्त्र का अध्ययन करना गलत है। जिस स्थान के अर्थशास्त्र का अध्ययन करना हो, पहले वहां की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि को जानना आवश्यक है। तभी वहां के अर्थशास्त्र का सही अध्ययन हो सकता है, और तभी हमें वहां की वास्तविक आर्थिक दशा का ज्ञान हो सकता है। दूसरी बात रानडे ने यह कही कि शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों की मान्यताएं भारतीय समाज में कही भी और कभी भी ठीक नहीं बैठ सकती।

शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों द्वारा जिस आर्थिक मनुष्य की कल्पना की गई है, भारत का औसत मनुष्य उसका बिलकुल उलटा है। यहां समाज में दर्जा निर्धारित करने मे कुटुम्ब व्यक्ति से अधिक शक्तिशाली है, यहां के कार्यकलापों में केवल अपना स्वार्थसाधन ही मनुष्य का एकमात्र या प्रमुख लक्ष्य नही होता तथा रीति रिवाज और राजकीय नियन्त्रण, प्रतिस्पर्धा से कही अधिक शक्तिशाली होते हैं। इस कारण से भी भारत जैसे देश में, ऊपर चर्चित सिद्धान्तों का कोई मूल्य नहीं है। इसलिए शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त उन विचारों और उन उपायों का काट नहीं कर सकते थे जो रानडे ने और फिर उनके बाद अन्य भारतीय विचारकों ने भारत की गरीबी का उन्मूलन करने के लिए सुझाए थे।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में देश के सभी भागों में इसी प्रकार के राजनीतिक और आर्थिक विचार फैल रहे थे। जो भारतवासी सार्वजनिक मामलों में रुचि रखते थे, वे समान परिस्थितियों में और समान समस्याओं पर एक ही तरह के विचार रखते थे। उनमें से कुछ लोगों ने आर्थिक समस्याओं पर विचार किया और लिखा भी। विचारकों में सबसे अग्रणी और प्रतिभाशाली ये थे—दादाभाई नौरोजी, जो इंग्लैण्ड में रहते थे, दिनशा वाचा और के० टी० तैलंग (बम्बई), रानडे और जी० वी० जोशी (पूना और सतारा) आर० सी० दत्त (बंगाल) और वी० सुब्रह्मण्य आयर (मद्रास)। लेकिन रानडे और जी० वी० जोशी को छोड़कर ये सभी विशिष्टजन भारतीय समस्याओं से जूझ रहे थे। दादाभाई भारत की गरीबी और यहां के धन के इंग्लैण्ड की ओर खींचे जाने की समस्या हल करने में लगे थे। तैलंग उद्योगों की सुरक्षा की आवश्यकता पर जोर देते थे। दत्त भू-राजस्व कम

करवाने और स्थायी बन्दोबस्त करवाने की अत्यावश्यकता पर ध्यान दे रहे थे। वे सब आपसी सहयोग से समान दृष्टिकोण का विकास कर रहे थे। एक स्थान पर आर० सी० दत्त ने सार्वजनिक-सभा और उसकी पत्रिका की बहुत प्रशंसा की थी। दादाभाई नौरोजी की एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए रानडे ने उनकी प्रशंसा में कहा, "दादाभाई ने भारतीय शासन के रहस्यों का पर्दाफाश करके दुश्मन को उसके ही क्षेत्र में हराया है।" इन भारतीय लेखकों के बीच आपस में छोटे-मोटे मतभेद होते रहते थे पर उनका अधिक महत्व न था। पारस्परिक विचार विनिमय के द्वारा उन्होंने समान दृष्टिकोण का विकास किया। इस विकास में रानडे का योगदान सबसे अधिक था, क्योंकि इस विषय का सबसे अधिक ज्ञान केवल उनको ही था। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सर जे० सी० कोयाजी, जो रानडे के बहुत बाद में हुए, उनके बारे में लिखते हैं, "रानडे भारत के पहले अर्थशास्त्री थे। उन्हें पहला इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने ही सबसे पहले अपने देश की लगभग सभी महत्वपूर्ण आर्थिक समस्याओं पर प्रकाश डाला, उनका अध्ययन किया और आर्थिक सिद्धान्तों की उचित पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए उनके विषय में व्यापक रूप से विचार प्रकट किए जबकि उनके समकालीन और सहकर्मी दादा भाई नौरोजी और तैलंग सरकार की नीतियों की कुछ ही बातों की आलोचना करके सन्तुष्ट हो जाते थे। रानाडे का दृष्टिकोण व्यापक था और वे अपने विषय के हर पहलू पर विचार करते थे जबकि उनके कई सहकर्मी वकील की तरह काम कर रहे थे और विरोध पक्ष को कोई रियायत नही देना चाहते थे, रानडे न्याय और विवेक के मार्ग पर चल रहे थे और उन्होंने अपने देश और राष्ट्र की कमजोरियों को कभी छिपाने की कोशिश नही की।"

वह रानडे ही थे जिन्होंने अपने समकालीन भारतीयों के आर्थिक विचारों को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया। उन्होंने ही यह दिखलाया कि ऐतिहासिक आर्थिक विचारधारा शास्त्रीय विचार-धारा से श्रेष्ठ है और हाल ही में विकसित हुई है तथा भारतीय अर्थशास्त्री इसी विचारधारा के अनुसार लिख रहे हैं। उन्होंने ही सबसे पहले बतलाया कि रिकार्डो ने नहीं बल्कि लिस्ट ने भारतीय समस्याओं पर प्रकाश डाला और उनके समाधान के सुझाव दिए थे। बाद के अर्थशास्त्रियों ने रानडे को, "भारतीय अर्थशास्त्र का पिता" की उपाधि दी, और वह वस्तुतः इस उपाधि के पात्र थे।

अध्याय 15

समाज सुधार के लिए अभियान

(1884–1892)

जिस अवधि में रानडे राष्ट्र के द्वारा सम्मानित राजनीतिक नेता और भारतीय राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रवर्तक के रूप में उभरे, उसी अवधि में वह भारत में समाज सुधार के अग्रणी कर्णधार और विचारक के रूप में भी सामने आए।

रानडे के 1871 तक के समाज सुधार के कार्यों के विषय में पहले ही एक अध्याय में बतलाया जा चुका है। सन् 1884 तक महाराष्ट्र में समाज सुधार के बारे में अपेक्षाकृत कम विवाद हुए। तभी दो घटनाएं ऐसी घटी जिनसे आन्दोलन भड़क उठा। इनमें एक थी रुखमाबाई रक्षा समिति का बनना और दूसरी मालाबारी के पत्रों का वितरण। लेकिन इन शान्ति के दिनों में भी रानडे कुछ न कुछ काम करते ही रहे थे। सन 1881 में उन्होंने इस नियम को मनवाने के लिए एक हस्ताक्षर अभियान आरंभ किया कि 17 वर्ष से कम के लड़कों और 10 वर्ष से कम की लडकियों का विवाह न किया जाए। वह विधान-परिषदों के सदस्यों से भी मिल कर उन्हें सलाह दिया करते थे कि वे समाज सुधार के कामों को प्रोत्साहन देने के लिए कानून बनाए। वह कहा करते थे कि वही एक ठोस काम होगा जिससे उन्हें ख्याति मिलेगी। उन्होंने कहा कि विधान परिषद् में हुए विचार-विमर्शों से सामाजिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकर्षित होगा और यही बड़े काम की बात होगी।

एक मामूली से मुकदमे के कारण रखमाबाई रक्षा समिति का निर्माण हो गया था। लेकिन उसका बहुत प्रचार हुआ। उसके सामाजिक प्रभाव के विषय में सार्वजनिक भाषणों में और अखबारों में खूब चर्चा होती थी। सन् 1884 में दादाजी नामक एक व्यक्ति ने नालिश की कि उसकी पत्नी रखमाबाई आकर उसके साथ उसके घर में रहे। रखमाबाई आकर उसके साथ नहीं रहना चाहती थी। उसकी मां ने अपने पति की मृत्यु के बाद डाक्टर सखाराम नामक एक व्यक्ति से विवाह कर लिया था और हिन्दू विधि के अनुसार उसे अपने पहले पति की सम्पत्ति को जो 25,000 रु० की थी, छोड़ना पड़ा था। वह सब सम्पत्ति रखमाबाई को मिल गई। रखमाबाई जब 13 वर्ष की थी तभी उसका विवाह हो गया था। अपने विवाह के बाद भी वह अपने माता-पिता के साथ ही रहती रही। मां-बाप ने उसे पढ़ाया-लिखाया। उसका पति अशिक्षित और उजड्ड था और तपेदिक का रोगी भी था। बड़ी होने पर कायदे से तो उसे अपने पति के साथ रहने के लिए चले जाना चाहिए था लेकिन पति-पत्नी के बीच सांस्कृतिक रूप से इतना अधिक अन्तर था कि वह उससे घृणा करने लगी। इसलिए उसके पति ने उसके ऊपर कोर्ट में मुकदमा दायर कर दिया। समाचार पत्रों में उसकी इस दुर्दशा की बहुत चर्चा हुई और समाज सुधारकों ने उसके प्रति पूरी सहानुभूति प्रकट की। लेकिन हाई कोर्ट ने अपना निर्णय उसके पति के पक्ष में दिया। अब समस्या यह थी कि यदि रखमाबाई कोर्ट के निर्णय को नहीं मानती तो उसे गिरफ्तार करके जेल भेज दिया जाता और यदि मानती है तो अत्यन्त दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता। एलफ़िंस्टन कालेज के प्रिंसिपल वर्डस्वर्थ भारतवासियों और उनकी समस्याओं में बहुत रुचि लेते थे। उन्होंने रखमाबाई रक्षा

समिति बनाई, जिसके सदस्य रानडे, तैलंग तथा अन्य कई लोग थे। इस समिति का उद्देश्य यह था कि कोई ऐसा उपाय निकाला जाए जिससे रखमाबाई को दोनों सम्भावित विपत्तियों से बचाया जा सके। इसमें कई सार्वजनिक प्रश्न उलझे हुए थे। क्या कानून किसी सुसंस्कृत स्त्री को एक गरीब, अनपढ़, गंवार और तपेदिक के मरीज पति के साथ रहने के लिए बाध्य कर सकता है? क्या इसकी अपनी भावनाओं को पूर्णरूप से कुचल देना चाहिए? क्या उन पर बिल्कुल ध्यान नहीं देना चाहिए? क्या स्त्रियों के कोई अधिकार नहीं हैं? यदि कहा जाएं कि स्त्री की इच्छा पर ही विवाह निर्भर है, तो क्या एक प्रथा के रूप में विवाह कायम रह सकेगा? क्या तलाक हिन्दू संस्कृति के अनुरूप होगा? विवाद के दौरान रानडे ने एक भाषण दिया, जिसमें उन्होंने बतलाया कि हिन्दू स्मृतियों ने स्त्रियों को बहुत-से अधिकार दिए है, जिन्हें कालान्तर में भुला दिया गया है। लेकिन अब वे अधिकार उन्हें दिए जाने चाहिए। संस्कृत के विद्वान् डब्ल्यू० एस० आप्टे और बी० जी० तिलक ने उनका विरोध किया और तर्क में कहा कि सुधारकों को हिन्दू शास्त्रों का समर्थन प्राप्त करने का कोई अधिकार नही है।

लगभग इसी समय, सन् 1884 में बैरमजी मालाबारी नामक एक पारसी कवि और पत्रकार ने 'शिशु विवाह' और 'अनिवार्य वैधव्य' के ऊपर दो पुस्तिकाएं लिखी। ये "मालाबारीज़ नोट्स" के नाम से प्रसिद्ध हो गई। उसने इन दोनों पुस्तिकाओं को भारत के प्रभावशाली अफसरों और नेताओं को भेज दिया और साथ ही कुछ महत्वपूर्ण लोगों के पास इंग्लैण्ड भी भेजा। वे बड़ी योग्यता से जोरदार शब्दों में लिखी गई थी और उनमें उन सामाजिक बुराइयों की ओर ध्यान दिलाया गया था, जिनके

शिकार भारत के लोग थे। इन पुस्तिकाओं से जो विवाद उठ खड़ा हुआ वह सन् 1891 तक चला। मालाबारी ने 'हिन्दू मैरिज एक्ट' में संशोधन करने का सुझाव दिया था। उस समय के प्रचलित कानून के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी दस वर्ष से कम की पत्नी के साथ संभोग करता था तो वह बलात्कार समझा जाता था और इसके लिए उसे कड़ी सजा दी जाती थी। लेकिन दस वर्ष की लड़की के साथ संभोग करना अपराध नहीं समझा जाता था। मालाबारी ने सुझाव दिया कि विवाह के समय लडकी की आयु 10 से बढ़ा कर 12 वर्ष कर देनी चाहिए। कानून बनाना सरकार पर निर्भर था। इसलिए उसने इन पुस्तिकाओं की प्रतियां भारत सरकार को भी भेजीं और उससे प्रार्थना की कि वह सुझावों का ध्यान रखते हुए उनके अनुसार ही कानून पास करें।

जब रानडे को यह पुस्तिकाएं मिलीं तो उन्होंने सलाह करने के लिए अपने कुछ मित्रों को बुलाया। वे सब भी रानडे के विचारों से सहमत थे। उन्होंने कहा, "हमें इनमें, ऐतराज करने की कोई बात नही मालूम होती।" इसके बाद रानडे ने मालाबारी को उत्तर दिया कि मैं आपके विचारों से सहमत हूँ और आपका समर्थन करूंगा। 'रखमाबाई की कहानी' और मालाबारी की पुस्तिकाओं से प्रेरित हो कर रानडे, हिन्दू धर्मशास्त्रों के आदेशों और निर्णयों तथा प्राचीन कानून की पुस्तकों में हिन्दू स्त्रियों के अधिकारों के विषय में अध्ययन करने लगे। स्त्रियों के कल्याण के लिए मालाबारी ने जो प्रयास किए उनसे एन० के० वैद्य नामक एक व्यक्ति बहुत प्रभावित हुआ और उसने सन् 1885 में एक पुस्तक लिखी जिसमें उसने उस कार्यवाही का इतिहास दिया जो उस कानून के सम्बन्ध में हुई थी। यह कानून 1856 में पास किया

गया था और इसमें विधवा विवाह की अनुमति दी गई थी। रानडे ने इस पुस्तक के लिए अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी जिसमें उन्होंने भारत के इतिहास में स्त्रियों के अधिकारों के चढ़ाव और उतार की समीक्षा की। उन्होंने उसमें सामाजिक मामलों में सरकारी कानून के सिद्धान्त की भी चर्चा की और साथ ही इन आठ ऐतराजों का भी उत्तर दिया जो उसके विरुद्ध उठाए गए थे।

बाद में सन् 1886 में जब वित्त समिति के सदस्य के रूप में रानडे दौरे पर थे तब पूणे के लोगों ने उनसे पूछा, "आपने मालाबारी को अपने विचारों के विषय में क्या लिखा था?" रानडे ने एक लम्बे पत्र में अपने विचारों पर प्रकाश डाला जो 'ज्ञान प्रकाश' पत्रिका में छापा। "इस समय देश के विभिन्न भागों और विभिन्न समुदायों में ऐसे रीति-रिवाज प्रचलित हैं जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। भिन्न ही नही कहीं-कही तो बिल्कुल विपरीत हैं। परिणाम यह है कि सर्वत्र पूर्ण अव्यवस्था छाई हुई है। अनार्यों की कई क्रूर प्रथाएं भी यहाँ के रीति-रिवाजों में मिल जुल गई हैं। यह सारी अराजकता केवल इसलिए फैली है क्योंकि कोई केन्द्रीय नियंत्रणकारी संस्था नहीं है। धार्मिक पुस्तकों और महान पुरुषों के विचारों का अब कोई प्रभाव नही रह गया है। ऐसी स्थिति में, हमें उस एकमात्र सत्ता का ही उपयोग करना चाहिए जिसमें समाज को नियंत्रित करने की शक्ति है और वह सत्ता है सरकार। परन्तु किसी भी आपत्तिजनक प्रथा के विरुद्ध सामाजिक कानून की मांग करने से पहले यह आवश्यक है कि प्रत्येक जाति की प्रथा का व्यापक सर्वेक्षण किया जाए—यह देखा जाय कि उस बुराई को दूर करने के लिए अब तक क्या उपाय किए गए हैं और उस जाति की पंचायत या मुखिया

उसे चाहते हैं या नहीं। इस सर्वेक्षण के बाद ही जाति के मुखियाओं को अपने-अपने दल को सही तरीके से और सही दिशा में ले जाने का काम सौंपा जा सकता है।"

बाल-विवाह के लिए कानून बनाने के विषय में मालाबारी के सुझावों से सरकार सहमत थी लेकिन जनता के समर्थन के बिना वह कुछ भी करने को तैयार नहीं थी। सुधारकों ने लोगों का समर्थन सिद्ध करने के लिए कई आवेदन पत्र और याचिकाएं भेजी, लेकिन जल्दी ही जोरदार विरोध शुरू हो गया। सरकार ने बड़े-बड़े सार्वजनिक नेताओं, जैसे मण्डलीक, रानडे, के० टी० तैलंग और आर० सी० दत्त आदि से इस विषय में अपने विचार प्रकट करने को कहा परन्तु उनके आपस में ही बड़े मतभेद थे। रानडे का विचार था विवाह के लिए लड़के की उम्र कम से कम 16 या 18 वर्ष और लड़की की 10 या 12 वर्ष होनी चाहिए, साथ ही 14 वर्ष से कम की लड़की के साथ विवाह के बाद भी सहवास जुर्म समझा जाना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि एक कानून ऐसा भी बनना चाहिए जिसके अनुसार 45 वर्ष या उससे अधिक आयु का पुरुष छोटी उम्र की लड़की से विवाह न कर सके। उनके ये विचार सरकार को सूचित कर दिए गए। बम्बई, पूना और कई अन्य स्थानों में, प्रस्तावित कानून के पक्ष और विपक्ष में बड़ी-बड़ी सभाएं आयोजित की गईं। उनमें सबसे बड़ी सभा सन् 1855में बम्बई में हुई, जिसकी अध्यक्षता वी.एन.मण्डलीक ने की। प्रस्तुत विषय में सरकार को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।' सुधारकों की ओर से के० टी० तैलंग ने एक संशोधन प्रस्तुत किया कि इस याचिका में यह वक्तव्य शामिल कर दिया जाय कि 'हिन्दुओं को अपनी सामाजिक बुराइयों का पूरा ज्ञान है, जिन्हें वे स्वयं ही दूर करने की कोशिश करेंगे। यह संशोधन भारी

बहुमत से रद्द कर दिया गया। इसी प्रकार की सभाएं अन्य स्थानों पर भी हुईं। उनसे पता चलता है कि लोकमत कानूनी संशोधन के पक्ष में नहीं है। इसलिए अन्त में सन् 1886 में यह प्रस्ताव गिर गया लेकिन मालाबारी ने मैदान नही छोडा और वह व्यक्तिगत रूप से प्रयत्न करता ही रहा।

जिस समय राजनीतिक समस्याओं पर विचार करने के लिए एक अखिल भारतीय संस्था बनाने पर विचार किया जा रहा था, उसी समय रानडे ने सोचा कि ऐसी ही एक संस्था समाज सुधार की समस्याओं पर विचार करने के लिए भी बना लेनी चाहिए। कांग्रेस के अधिकतर सदस्य पश्चिमी विचारों से प्रेरित थे और इन्हीं लोगों में से समाज सुधार के नेता निकलते थे। उन्होंने सोचा कि यदि कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के बाद उसी पंडाल में अखिल भारतीय समाज सुधार कांफ्रेंस की सभा का भी आयोजन किया जाए तो कांग्रेस सदस्य उसमें भाग लेने के लिए रुक सकते है। इससे एक तो उनका सफर खर्च बच जाएगा और दूसरे पंडाल लगाने पर भी खर्च नहीं करना पड़ेगा साथ ही बहुत बड़ी संख्या में लोग उसमें भाग भी ले सकेंगे। रानडे सबसे पहले 1887 में मद्रास में, इस तरीके से, भारतीय सामाजिक कांफ्रेंस का पहला अधिवेशन आयोजित करने में सफल हुए। बाद में उन्होंने इस भारतीय सामाजिक कांफ्रेंस के लक्ष्य समझाए। उस समय देश में अनेक संस्थाएं थी जो लोगों के सामाजिक ढांचे में सुधार करना चाहती थी। उन सबका लक्ष्य तो एक ही था लेकिन वे अकेले-अकेले ही काम करती थीं क्योंकि किसी को एक दूसरी का कुछ पता नही था। "उनकी आपस में एक दूसरे के पत्राचार द्वारा सम्पर्क स्थापित करने और उनके अनुभवों से लाभ उठाने की प्रक्रिया बड़ी कठिन और बोझिल थी। इस प्रक्रिया को सरल

और उपयोगी बनाने के लिए ही इस 'सोशल कांफ्रेंस' का निर्माण किया गया था। हर कांफ्रेंस दूसरी से सहायता चाहती थी और सभी एक दूसरे के अनुभवों से लाभ उठाना चाहती थी। कांफ्रेंस में प्रतिवर्ष विचारों का आदान-प्रदान होता, अनुभव सुनाए जाते, विभिन्न प्रकार की जानकारी दी जाती और अनेक विषयों पर प्रकाश डाला जाता था और इस प्रकार विभिन्न संस्थाओं के कामों का एक ही लक्ष्य बन गया था।" सभी स्थानों और जातियों की सुधार संस्थाएं 'इंडियन सोशल कांफ्रेंस' के महासचिव को अपने कार्य की वार्षिक रिपोर्ट भेजती थी। कांफ्रेंस स्थानीय सोसाइटियों में काम करने वालो को प्रेरणा देती, काम करने के तरीकों को सूत्रबद्ध करके सुझाव देती तथा उनकी उपलब्धियों का प्रचार करके उन्हे प्रोत्साहन देती थी। मद्रास के दीवान बहादुर आर० रघुनाथराव सेक्रेटरी थे। उन्होंने और रानडे ने देश के सभी भागों में लोगों के पास, नई सुधार संस्थाएं खोलने और नए-नए कार्यक्रम आरम्भ करने के लिए पत्र भेजें। वार्षिक अधिवेशन में रानडे भाषण दिया करते थे। सभी सोसाइटियों से आई हुई रिपोर्टों को वह संक्षेप में सुनाते, उसके काम की उपयोगी समीक्षा करते, समाज सुधार के दर्शन की व्याख्या करते तथा समाज सुधारकों को जिस उच्च आदर्श से प्रेरणा मिलती है और मिलनी चाहिए, उसका प्रतिपादन करते। सन् 1887 से 1900 तक निरन्तर हर वर्ष रानडे ऐसे भाषण देते रहे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है लड़कियों के लिए विवाह की आयु (समहति-वय) 10 वर्ष से बढ़ा कर 12 वर्ष कर देने का मालाबारी का प्रस्ताव 1886 में सरकार ने रद्द कर दिया था क्योंकि जनता ने इसका विरोध किया था। लेकिन मालाबारी निराश नहीं हुआ था। वह निरन्तर समर्थन प्राप्त करने का

प्रयत्न अपने व्यक्तिगत सम्पर्कों द्वारा करता ही रहा। वह जाति, धर्म और नागरिकता के भेदभावों को बिल्कुल नहीं मानता था। इसलिए अपने प्रभावशाली अंग्रेज मित्रों से समर्थन दिलवाने के लिए कहने में उसे कोई बुराई नहीं दिखाई देती थी। कम उम्र की लड़कियों के कष्टों को दूर करने के लिए लोकोपकारी काम के लिए उसने उनकी सहमति प्राप्त कर ली और सन् 1890 में फिर से अपना काम आगे बढ़ाने के लिए अपने क्षेत्र में डट गया। इससे कुछ दिनों पहले दयाराम गीदूमल नामक उसके एक समर्थक और जोशीले समाज सुधारक ने 'स्टेट्स आफ वीमेन इन इंडिया' (भारत में स्त्रियों का दर्जा) नामक एक पुस्तक लिखी थी। रानाडे से उसके लिए भूमिका लिखने को कहा गया था। उन्होंने एक लम्बी भूमिका लिखी जो 'सार्वजनिक सभा जनरल' में दी सूत्र एण्ड स्मृति डिक्ट आन दी सब्जेक्ट आफ हिन्दू मैरिज' (हिन्दू विवाह के विषय में सूत्र और स्मृति के आदेश) शीर्षक से छपी। रानडे ने लिखा कि हिन्दू समाज में सदा से ही परिवर्तन होते रहे है, जैसा कि हमें शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है। इसी से हम समझ सकते है कि विभिन्न सामाजिक दलों में परस्पर विरोध क्यों है? उपसंहार में उन्होंने लिखा कि सामान्य रूप से स्मृतियों में लड़कियों के विवाह के विषय में लिखा है कि उनका विवाह 12 वर्ष की आयु में और उनके साथ सहवास 16 वर्ष की आयु में होना चाहिए। अन्त में उन्होंने लिखा कि सुधारों के विरोधी प्रचलित रिवाजों से चिपटे हुए हैं और शास्त्रों की महान परम्परा का उल्लंघन कर रहे हैं। केवल सुधारक ही उन बुराइयों से उनकी रक्षा कर रहे है, जो उनमें उसी प्रकार घुस बैठी हैं जैसे पुराने वृक्षों पर पराश्रयी पौधे उग कर बढ़ने लगते हैं। सन् 1889 में इंडियन सोशल कांफ्रेंस ने सहमतिवय को कानूनन बढ़ाने

की सिफ़ारिश करते हुए एक प्रस्ताव पास किया परन्तु बी० जी० तिलक ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। इसी बीच सन् 1890 में एक ऐसी घटना घटी जिसके कारण सरकार के विचारों में परिवर्तन आ गया। फूलमनि नामक एक छोटी-सी लड़की के साथ उसके पति ने बलात्कार किया और यह मामला कोर्ट में लाया गया। बम्बई के सुधारकों का हृदय दया से भर गया और उन्होंने एक नया आवेदन पत्र सरकार को दिया और उससे कानून बनाने की प्रार्थना की। इसके पक्ष में बम्बई के डाक्टरों ने भी सरकार को अपनी सही और पक्की राय दी। इसी समय अपने अभियान को फिर नए सिरे से आरम्भ करने और चलाने के लिए मालाबारी इंग्लैण्ड से वापिस आ गया।

इस आन्दोलन के समर्थन में तैलंग की अध्यक्षता में मालाबारी ने प्राईवेट सभाएं कीं। जब पूणे के रूढ़िवादियों को मालूम हुआ कि सरकार सहमतिवय बढ़ाने के लिए कानून बनाने का विचार कर रही है, तो उन्होंने इसे धर्म में हस्तक्षेप और घोर अपमान समझ कर तुलसीबाग में, विरोध प्रदर्शन के लिए, एक मीटिंग का आयोजन किया। अब तीन गुट बन गए थे। एक गुट तो उन कट्टरपंथियों का था, जो किसी भी प्रकार का कोई सुधार नही चाहते थे, दूसरा गुट समाज सुधारकों का था और तीसरे गुट में वे लोग थे जो सीमित सुधारों का समर्थन करते थे। राम दीक्षित आप्टे और बाला साहब नाटू कट्टरपंथियों का नेतृत्व करते थे, भण्डारकर, रानडे, नुलकर तथा अन्य कुछ लोग सुधारकों का नेतृत्व करते थे और सीमित सुधार चाहने वालों का नेतृत्व तिलक करते थे। मीटिंग से पहले, प्रस्ताव पास करवाने के विषय में इन तीनों दलों में परस्पर विचार-विमर्श हुआ।

जिस दल का नेतृत्व तिलक करते थे, उसने प्रस्ताव रखे थे कि 16 वर्ष से पहले लड़कियों की और 20 वर्ष से पहले लड़कों की शादी नहीं होनी चाहिए तथा 340 वर्ष से ऊपर के पुरुषों को विवाह करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए, हां विधवा से विवाह करने का उन्हें अधिकार होना चाहिए। इन प्रस्तावों के बाद सहमति-वय की समस्या नहीं रह जाएगी। लेकिन इनको कानूनी तौर पर केवल इच्छुक सुधारकों पर ही लागू किया जाना चाहिए।

ध्यान देने की बात है कि तिलक के गुट ने इन कानूनों को मानने के लिए अपने आपको वचनबद्ध नही किया। इसका मतलब है कि ये कानून केवल सुधारक गुट पर ही लागू होते थे। कोई समझौता होने के आसार दिखाई नही देते थे। जब वास्तविक मीटिंग हुई तो तिलक कट्टरपंथियों के गुट में शामिल हो गए। लगभग 5,000 लोगों की सभा में वह आवेदन पत्र पढ़ा गया जिसमें सरकार से बिल को रद्द कर देने की प्रार्थना की गई थी। उसका समर्थन तिलक ने अपने भाषण में किया। इस पर कोई प्रस्ताव नहीं आया और अन्त में घोषणा की गई कि दो अर्जियां बनाई जाएं और उन्हें दोनों गुटों द्वारा हस्ताक्षर लेने के लिए लोगों के पास घुमाया गया।

सुधारकों और तिलक गुट के बीच समझौता करवाने के लिए पूना में जोशीहाल में एक और सभा का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता नुलकर ने की। अन्त में तिलक ने अपने विचार व्यक्त किए कि समाज सुधार के लिए ऐसा कोई कानून नहीं बनना चाहिए जो इच्छुक और अनिच्छुक सभी लोगों पर समान रूप से लागू हो। फिर भी, कानून अवश्य पास किया जा सकता है और वह केवल उन्हीं लोगों पर लागू किया जाना चाहिए जो

समाज सुधार के लिए उतावले हैं। इसका उत्तर रानडे ने दिया कि जो लोग सुधार के विशिष्ट नियमों का पालन करने के लिए तैयार हैं, उनके हस्ताक्षर लेने का अभियान आरम्भ हो चुका है। लगभग 1,500 लोगों ने अपने हस्ताक्षर दे दिए हैं जिनमें से 1,200 या 1,300 लोगों ने लड़की के लिए शादी की उम्र कम से कम 10 वर्ष स्वीकार कर ली है। लगभग 100 व्यक्तियों ने 12 वर्ष और 15 व्यक्तियों ने 14 वर्ष की उम्र स्वीकार की है। संक्षेप में कह सकते हैं कि स्वस्थ नियमों का स्वेच्छा से पालन करने वाले लोग बहुत कम हैं, इसलिए जो तरीका अपनाने का सुझाव तिलक ने दिया है वह कारगर नहीं हो सकता।

जनवरी सन् 1891 में कलकत्ता विधान परिषद् में 'सहमति वय बिल' पेश किया गया। एक दो महीनों तक पूरे देश में उसके विरुद्ध आन्दोलन चलते रहे और उत्तेजना बढ़ती रही। समाचार-पत्रों ऐसे लेखों और समाचारों से भरे रहते थे जिनमें इस विषय की चर्चा रहती थी। तैलंग, भण्डारकर, नुलकर, रानडे और आगरकर आदि सुधारकों की खूब खिल्ली उड़ाई जाती थी। रूढ़िवादियों के पक्ष में भी, महादेव चिम्नाजी आप्टे, चिमनलाल, सीतलवाड, पंडित शेषधर, तर्क चूड़ामणि, रमेश चन्द्र मित्र, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और खापरडे आदि बड़े-बड़े महारथी मौजूद थे। लेकिन महाराष्ट्र के सुधारकों को यदि किसी भारी और तीव्रतम प्रहार का सामना करना पड़ा तो वह था बी० जी० तिलक के विरोध का जिनके व्यंग्योक्तियों और तिरस्कार पूर्ण शब्दों ने उनकी विवाद योग्यता को चार चांद लगा दिए थे। सुधारकों की ओर से रानडे, तैलंग और भण्डारकर ने अपने पक्ष की ओर से बड़ी विद्वत्तापूर्ण और तर्क पूर्ण दलीलें दीं। तिलक ने भी बहस में अपने तर्क दिए, लेकिन कई बार मूल प्रश्न से अलग हो गए।

तिलक और एक अन्य निन्दक किन्तु विद्वान वक्ता जिन्सीवाले ने मिल कर पूणे में एक बहुत भारी मीटिंग बुलाई जिसमें बिल और उसके समर्थकों की खूब निन्दा की गई परन्तु भण्डारकर जैसे सुधारकों ने समर्थन के लिए मीटिंग का आयोजन किया, तो उस पर कीचड़ और पत्थर बरसाए गए, जिसके कारण उसे जल्दी ही समाप्त कर देना पड़ा। उस समय रानडे दौरे पर पूना से बाहर गए हुए थे। भारी देशव्यापी उत्तेजना और शक्तिशाली सार्वजनिक विरोध के होते हुए भी सन् 1891 में विधान परिषद् में 'सहमति-वय-बिल' पास हो गया।

पूणे में सुधारकों के विरुद्ध जो आन्दोलन हो रहे थे वे सीमा को पार कर गए थे। होली के त्योहार पर सुधार विरोधियों ने एक सुधारक का पुतला बनाया, उसकी बगल में 'इन्दु प्रकाश' और 'सुधारक' नामक दोनों पत्रिकाएं ठूस दीं, गले में बिस्कुटों की माला पहनाई और छाती पर शराब की बोतल रख दी। उसके बाद उस पुतले को शोर मचाते हूए एक जुलूस में, बड़े-बड़े प्रतिष्ठित सुधारकों के घरों के सामने से ले जाया गया। महाराष्ट्र में 'सुधारक' की ऐसी ही मूर्ति का प्रचार किया गया था।

'सहमति वय बिल' के कारण पूणे में हो रही भारी उत्तेजना अभी समाप्त भी नही होने पाई थी कि एक और घटना घट गई। यह 'पंच्च हाउड मिशन का चाय का मामला था। यह एक सनकी आदमी की शरारत का परिणाम था, जिसका नाम गोपाल राव जोशी था। उसने बड़ी हिम्मत और विश्वास के साथ अपनी पत्नी को अमरीका भेज दिया, कि वह वहां काम करके पैसा जमा करें और फिर पढ़ाई कर के डाक्टर की डिग्री ले कर वापिस आए। उसे धार्मिक रीति-रिवाजों तथा धर्म प्रेमी लोगों का मज़ाक उड़ाने में बड़ा आनन्द आता था। उन्हें तंग करने के लिए कोई भी

बेतुका काम करने में उसे कोई संकोच नहीं होता था। एक बार सन् 1890 के अक्तूबर महीने में उसने सभी समाज सुधारकों को फांसने के लिए एक जाल बिछाया। इस जाल में रानडे और तिलक भी फंस गए। उसने एक ईसाई संस्था "पच्च हाउडमिशन" के प्रमुख को, कुछ भद्र पुरुषों को भाषण देने को बुलाने के लिए राजी कर लिया। लगभग पचास व्यक्ति वहां पहुंचे। पहले लेक्चर हुए और बाद में अचानक ही उन्हें चाय और बिस्कुट दिए गए। इसका आयोजन भी गोपाल राव ने ही किया था। मेहमानों को यह समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें, यदि वे चाय पीते है और इसका पता बाहर वालों को चल जाता है तो उन्हें ईसाइयों के साथ सहभोज करने के अपराध में जाति से बाहर निकाल दिया जाएगा और यदि वे चाय नही पीते तो मेजबानों का अपमान होगा। करें तो क्या करें? बहुत से लोगों ने केवल चाय के प्याले छू लिए या केवल चाय पी ली और कुछ नही खाया। इसके छः महीने बाद गोपाल राव ने एक और चाल चली। उसने उन सबके नाम एक कट्टरपंथी पत्रिका "पूर्णवैभव" में छपवा दिए जो पंच हाउड मिशन में गए थे। इससे कट्टरपंथी बहुत क्रोधित हुए और उनके नेता सरदार बाला साहिब नाटू ने अपराधियों को दण्ड देने के लिए शंकराचार्य को एक आवेदन-पत्र भेज दिया। शंकराचार्य ने जांच-पड़ताल करने के लिए दो पंडितों को भेजा और फिर इस 'आयोग' के सामने पेशी शुरू हो गई। कुछ तथाकथित अपराधियों ने तो इस आयोग को मान्यता ही नही दी, जिनमें जी० के० गोखले थे। लेकिन रानडे ने कुछ भी नहीं किया और कहा कि जो हो रहा है उसे होने दो। परन्तु क्या यह समाज सुधार के सिद्धान्त के अनुकूल था? तैलंग को लिखे गए एक पत्र से रानडे के रवैये का पता

चलता है, वह लिखते हैं, "अपने जीवन में कभी भी कोई यह कहने का साहस नही कर सकता कि ये धार्मिक पंडित और पुरोहित हमारे शत्रु हैं, विशेष रूप से सुधारक लोग तो कभी नही। इन धर्मगुरुओं के अपने उपयोग हैं। इनसे घृणा करने अथवा इनकी उपेक्षा करने से किसी भी अच्छे या बड़े काम की सिद्धि नहीं होती। चाहे 'स्वामी' मुझे किसी भी तरह किसी भी बात में सहायता करने को तैयार नही हैं, फिर भी मैं तो यही सोच कर उसके पास जाऊंगा कि उसे हमारे इस पहलू पर भी विचार करना चाहिए।" शंकराचार्य के आयोग ने अभियुक्तों को एक मामूली से अपराध का दोषी ठहराया और उनकी शुद्धि के लिए नाममात्र प्रायश्चित बताया। तिलक ने तो वाराणसी में पहले ही प्रायश्चित्त कर लिया था। रानाडे तथा अन्य सात लोग भी दोषी थे। वे सब सुधारक थे और अपने सुधारवादी सिद्धान्तों के प्रति उनकी पूरी आस्था थी। इसलिए उन्होंने प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने सोचा कि प्रायश्चित्त करने से यह सिद्ध हो जाएगा कि वास्तव में उन्होंने पाप किया है जिसे वे स्वीकार भी करते हैं। लेकिन तभी रूढ़िवादियों ने उनका सामाजिक बहिष्कार भी कर दिया। तिलक ने अपनी सफ़ाई दी लेकिन उन लोगों ने उनकी एक न सुनी और उन्हें भी अपराधियों में शामिल कर लिया।

जिन लोगों ने अपने रिश्ते-नातेदारों से अच्छे सम्बन्ध बना रखे थे और जो धार्मिक कृत्य और अनुष्ठान आदि करते और उन पर विश्वास करते थे, उन्ही लोगों पर इस सामाजिक बहिष्कार का वास्तविक प्रभाव पड़ा था। बड़े-बड़े धर्मानुष्ठान सुधार भी करते थे। समाज-बहिष्कृत परिवारों की बहू-बेटियों का जीवन सबसे अधिक दयनीय था क्योंकि इसके फलस्वरूप उनके रिश्तेदारों

को उनसे अपने सम्बन्ध तोड़ देने पड़ते थे और यदि नहीं तोड़ते थे तो फिर उनका भी बहिष्कार कर दिया जाता था। परिवार के लोगों को धर्मानुष्ठानों में कोई कठिनाई न हो, यह सोच कर रानडे दो पंडितों का भरण-पोषण करते थे और दो को उन्होंने संरक्षण दिया हुआ था। वे ही लोग उनके और उनके मित्रों के घरों में होम, व्रत-उपवास, भोज, जनेऊ और विवाह आदि कार्य करते और अनुष्ठान सम्पन्न करवाते तथा विधि विधान से सारी पूजा आदि करवाते थे। इसलिए पंच हाउड मिशन बहिष्कार के मामले में यदि रानाडे चाहते तो प्रायश्चित करने से इन्कार कर सकते थे और उसकी उपेक्षा कर सकते थे। वह सच बोल कर यह भी कह सकते थे कि मैंने तो चाय पी ही नहीं, इसलिए मुझे प्रायश्चित करने की कोई आवश्यकता नहीं। जब उनकी बहन ने उनसे ऐसा करने को कहा तो उन्होंने उत्तर दिया, "मैं ऐसा कैसे कर सकता हूं? मैं भी तो उनके साथ ही था। जब मैं भी उसी गुट में सम्मिलित था, तो मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि जो उन्होंने किया वही मैंने भी किया, चाहे वास्तव में मैंने किया हो अथवा नहीं।" उन्होंने कहा "चाय पीने या न पीने से कुछ पाप या पुण्य होता है यह मैं नहीं मानता। लेकिन मैं स्वयं ऐसी किसी बात से कभी पलायन नहीं करूंगा जिसमें मेरे मित्र और एकनिष्ठ साथी फंसे हुए हों।" जो भी हो, एक वर्ष के अन्दर ही इन सुधारवादियों की शक्ति और साहस ने जवाब दे दिया। उनके एक मित्र के घर में तनाव इतना बढ़ा कि वह सहनशक्ति की सीमा पार कर गया। उस मित्र के घर में विवाह सम्पन्न होने वाला था। वह चाहता था कि पूणे में उसके पिता को और परिवार को उसके कारण कोई परेशानी न हो। इसलिए गर्मी की छुट्टियां बिताने के लिए वह अपनी पत्नी और बच्चों के साथ

रानडे के यहां लोनावला आ गया। लोनावला पूणे के पास एक पहाड़ी स्थान है। उसके बूढ़े पिता को उसके इस काम से बहुत दु:ख हुआ। बुढ़ापे में बेटा परिवार के लिए सदा सदा के लिए पराया और अजनबी हो जाए इससे अधिक दु:ख की बात और क्या हो सकती थी? पिता की ऐसी मनोव्यथा को देख कर बेटे को भी बहुत दु:ख हुआ और उसकी दशा भी दयनीय हो गई। कुछ अन्य मित्र भी दु:खी हुए। उनकी प्रार्थना पर रानडे ने उनके साथ शुद्धि के लिए प्रायश्चित किया। उनके अतिवादी साथी सुधारकों ने इस शुद्धिकरण की जोरदार आलोचना समाचार पत्रों में छपवाई। और जो रूढ़िवादी हिन्दू थे उन्होंने उनकी खिल्ली उड़ाई और खुश भी हुए।

अध्याय 16

तिलक से विरोध

(1885-1895)

सन् 1885 से 1895 तक के दशक में रानडे के देश निर्माण के महान कार्य में बाल गंगाधर तिलक नामक व्यक्ति के कारण बहुत व्यवधान पड़ा। वैसे बाल गंगाधर तिलक भी आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में आदर के पात्र हैं।

तिलक रानडे से 14 वर्ष छोटे थे और उनका लालन-पालन गरीबी के वातावरण में ही हुआ था। जब तिलक डेकन कालेज पुणे में विद्यार्थी थे तभी उनके चरित्र में अनेक गुणों का प्रादुर्भाव हो गया था। जैसे, विद्या प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा, बौद्धिक शक्ति, स्वतन्त्र विचार, परिश्रम, दृढ़ निश्चय और साहस। सार्वजनिक सभा के माध्यम से बड़ौदा के मल्हारराव गायकवाड़ के बचाव के लिए रानडे के साहसिक प्रयत्न, जनता की शिकायतों के लिए सभा के अभ्यावेदन और देश को स्वतन्त्र करने के लिए फड़के द्वारा किया गया असफल विद्रोह आदि ऐसी घटनाएं थीं, जिन्होंने कालेज के नवयुवकों को बहुत प्रभावित किया और उन्हें देश की और देश-वासियों की दशा की ओर ध्यान देने के लिए प्रेरित किया। जब तिलक एल. एल. बी. में पढ़ रहे थे, तब उनकी भेंट आगरकर से हुई जो अत्यधिक गरीब था। उसके पास केवल एक ही कमीज थी। फिर भी जब उसने बी० ए० पास किया तो धन-दौलत की ओर से बिलकुल मुंहमोड़ लिया और देश सेवा के लिए जीवन अर्पण करने का व्रत ले लिया। तिलक भी ऐसे ही आदर्शवादी थे और दोनों मित्र

बैठकर आपस में घंटों वातें किया करते थे कि उन आदर्शों को कैसे प्राप्त किया जाए। यद्यपि समाज-सुधार और राजनीतिक विकास के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में दोनों के विचार भिन्न थे, फिर भी इस वात में दोनों सहमत थे कि देश की उन्नति के लिए स्वयं भारतवासियों द्वारा दी गई ऐसी उपयुक्त शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक है, जिससे देशभक्ति की भावना जागृत हो। उन दिनों अपनी व्यक्तिगत उन्नति करने के लिए वहुत सुविधाएं दी जाती थीं। लेकिन उन्होने उनकी ओर ध्यान न देकर अपनी सारी शक्ति लोगों को शिक्षित वनाने में ही लगाने का निश्चय कर लिया था। उन्होंने मिशनरी संस्थाओं की पद्धति पर ही स्कूल खोलने का विचार किया, और रानडे से सलाह मांगी। उन दिनों रानडे धूलिया में थे। उन्होंने उन को पत्र लिखा, "आप लोगों ने जो देश सेवा करने का संकल्प किया है वह प्रशंसनीय है। लेकिन स्कूल खोलने से पहले आपको अच्छी तरह सोच लेना चाहिए। जव तक देश में अमरीकन की भांति राष्ट्रीय समाचारपत्र, राष्ट्रीय शिक्षा और राष्ट्रीय देवालय नही होंगे तव तक उसका उद्धार नही हो सकता।" इसी समय उन्हें मालूम हुआ कि विष्णु शास्त्री चिपलंकर सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर पुणे में एक गैर-सरकारी स्कूल खोलने का विचार कर रहा है। चिपलंकर जव एक सरकारी स्कूल में शिक्षक के पद पर काम कर रहा था, तभी उसने 1874 में "निवन्ध माला" नाम की एक पत्रिका निकाली थी जिसके माध्यम से वह अपनी देश-भक्ति के सारे उद्‌गार निकाला करता था और प्रत्येक भारतीय वस्तु के लिए अत्यधिक गर्व प्रदर्शन करता था। ईसाई मिशनरियों के साथ ही उन समाज-सुधारकों को भी बुरा-भला कहा करता था जो हिन्दू प्रथाओं और रीति-रिवाजों की बुराइयां करते और उनकी गलतियां निकालते थे। इस निःस्वार्थ और आदर्शवादी देशभक्त

के साथ तिलक और आगरकर भी मिल गए और सन् 1880 में उन तीनों ने मिल कर न्यू इंगलिश स्कूल खोला। जिस सार्वजनिक कार्य को अब तक ऐसे बड़े खुशहाल लोग किया करते थे, जो या तो सरकारी अधिकारी होते थे या शैक्षिक संस्थाओं के सफल व्यक्ति अब उसी कार्य को निःस्वार्थ भाव से करने का संकल्प करके इन तीनों ने एक नयी परम्परा स्थापित की। उनके इस दल में और भी कई लोगों ने भाग लेना शुरू कर दिया। आम जनता को वास्तविक शिक्षा देने के लिए उन्होंने दो साप्ताहिक पत्रिकाएं भी निकाली— मराठी में 'केसरी' और अंग्रेजी में 'मराठा'। उन्होंने एक छापाखाना भी खोला। दलित वर्ग को राहत दिलाने का काम वे बड़ी निर्भीकता से करते थे। एक बार कोल्हापुर के दीवान पर यह दोष लगाने के कारण कि वह वहां के महाराज को खतरनाक दवाइयां देता है, वे लोग बड़ी कठिनाई में पड़ गए थे। मानहानि के अपराध के लिए तिलक और आगरकर पर मुकदमा दायर कर दिया गया। इसी समय चिपलंकर की मृत्यु हो गई। जिन लोगों की गवाहियों पर ये अभियुक्त निर्भर थे, उन्होंने कहा कि हमारे नाम किसी को न बताए जाएं। इस पर उन्होंने माफी मांग ली। लेकिन इस क्षमायाचना से या के० टी० तैलंग जैसे वकील की बहस से किसी से भी कुछ नहीं हो सका और उन्हें चार महीने की कैद की सजा हो गई। इससे जनता की नजरों में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। और सन् 1882 में जब वे लोग डोंगरी जेल की यातानाएं सहकर बाहर निकले तो उन्होंने देखा कि उन्हें 'वीरों' जैसा सम्मान दिया जा रहा है। सन् 1885 में तिलक और आगरकर ने मिल कर फर्गुसन कालेज खोला और स्वयं उसमें प्राध्यापकों के रूप में पढ़ाने लगे। कालेज और संस्थाओं को चलाने के लिए उन लोगों ने 'डेकन एजूकेशन सोसाइटी' नाम

की एक संस्था स्थापित की । इसी समय मालावारी के प्रस्तावों से यह प्रश्न सामने आ गया था कि पहले समाज-सुधार किए जाएं अथवा राजनीतिक सुधार । आगरकर केसरी का और तिलक 'मराठा' का सम्पादन करते थे । उनके पुराने वैचारिक भेदभाव जो अब तक दबे पड़े थे उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों और नीतियों में दिखाई देने लगे । सन् 1886 में दोनों समाचार पत्रों से सोसाइटी ने अपना सम्बन्ध तोड़ दिया । इन की देख-रेख वी० बी० केलकर करता था। कुछ दिनों बाद 'केसरी' को छपवाने का उत्तरदायित्व तिलक ने अपने ऊपर ले लिया, इसके थोड़े दिन बाद ही आगरकर ने अपना एक साप्ताहिक पत्र 'सुधारक' निकाला । गोपाल कृष्ण गोखले, जो कुछ दिन पहले ही फर्गुसन कालेज के प्राध्यापक के पद पर आए थे और उसके आजीवन सदस्य बन गए थे, आगरकर की सहायता करते थे। तिलक और अगरकर दोनों ही वाद-विवाद में एक दूसरे से बढकर थे । इसी वाद-विवाद के कारण उनके आपसी मतभेद और भी अधिक बढ़ गए । इसके अतिरिक्त संस्थाओं की व्यवस्था के विषय मे भी उनके मतभेद थे। साथ ही तिलक का स्वभाव भी अच्छा नही था, उनके साथ काम करने वाले अधिकतर लोगों का कहना था कि तिलक घमंडी, हठी और अक्खड और आत्म-प्रशंसक हैं। सन् 1890 में तिलक ने सोसाइटी से इस्तीफा दे दिया और तभी से वह प्राध्यापक भी नही रहे। 'केसरी' का सोसाइटी से कोई संबन्ध नहीं था, इसलिए उसकी देखरेख करते रहे।

विधवा-विवाह और स्त्रीशिक्षा के लिए समाज-सुधार की आवश्यकता से तिलक ने कभी इन्कार नहीं किया, फिर भी कोई न कोई कारण निकाल कर वे सदा ही सुधारकों के प्रयासों की आलोचना करते रहे थे । पुणे में 'फीमेल हाई स्कूल' खोलने के लिए

उन्होंने उन लोगों की इसलिए निन्दा की क्योंकि वहां की प्रधान-अध्यापिका यूरोपीय थी, इसलिए वहां का वातावरण भी पाश्चात्य ढंग का था, पंडिता रमाबाई के 'शारदा सदन' को मान्यता देने के लिए भी उन्होंने उनकी आलोचना इसलिए की क्योंकि उसकी अध्यक्षा एक ईसाई स्त्री थी और वह गुपचुप धर्म परिवर्तन का काम भी करती थी। रमाबाई के मामले में समर्थन देने के लिए उन्होंने उन की आलोचना इस आधार पर की कि वह स्वेच्छाचारिणी थी और विवाह की प्रथा पर ही प्रहार कर रही थी और "सहमति वय बिल" का समर्थन करने के लिए उन्होंने उनकी निन्दा इसलिए की कि यह मामला पूर्णरूप से सामाजिक है और इसमें सरकार से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। उनकी ये आलोचनाएं आधारहीन नही थी। उनका संस्कृत के ग्रन्थों का ज्ञान भी बहुत गहन था। जब वह संस्कृत के ग्रन्थों के मूल पाठ की व्याख्या करते और शास्त्रीय वाद-विवाद करते तो उनकी विद्वता की केवल प्रशंसा ही करते बनती थी। लेकिन दो बातों के लिए अवश्य तिलक को दोषी ठहराया जा सकता है। एक तो यह कि पार्लियामेंट में विरोधी दल की भांति समाज सुधार को प्रोत्साहन देने के लिए कोई ठोस काम करने या कोई रचनात्मक सुझाव देने के बजाए, वे केवल दोषों को ही उजागर करते थे, मानो उनका उद्देश्य केवल समाज सुधारक दल को बदनाम करना ही था, उसे सुधारने में सहायता देना नहीं। दूसरी बात यह है कि सुधारकों का विरोध करते समय वह शिष्टाचार की छोटी-छोटी बातें भी भूल जाते थे। जब वह उनकी निन्दा करते थे तो ऐसे अपशब्द कहते कि सुधारकों का मन ग्लानि से भर जाता और वे अत्यन्त दुःखी होते।

सुधारकों के तर्कों के जो विद्वतापूर्ण उत्तर वे देते थे, उनमें भी गुस्ताखी भरी रहती थी। भण्डारकर और तैलंग संस्कृत के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के महान विद्वान थे और रानडे अपनी गंभीरता, विद्वता और मौलिकता, के लिए प्रसिद्ध थे। फिर भी जिस समय सहमति वय बिल पर वाद-विवाद चल रहा था, तिलक ने भण्डारकर के ज्ञान की गहनता पर शंका प्रकट की। तैलंग के विषय में तिलक ने कहा कि वह तो अपने वकालत के धन्धे में ही इतना व्यस्त रहता है कि धर्म ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन नही कर सकता। इसलिए उसकी दी गई व्याख्याओं पर भरोसा नहीं किया जा सकता। रामायण के ऊपर एक विद्वतापूर्ण ग्रन्थ लिखने वाले तैलंग के ऊपर तिलक ने इस प्रकार कीचड़ उछाली थी। रानडे के इस तर्क का विरोध करते हुए कि वर्तमान कानूनों की अपेक्षा प्राचीन धर्म ग्रन्थो में स्त्रियों के प्रति अधिक उदार भाव है, इसलिए इन कानूनों को भी उदार बना देना चाहिए, तिलक ने उत्तर दिया, वाह, क्या तर्क दिया है! अपनी अत्यधिक गहन और विस्तृत विद्वता का कैसा भव्य प्रदर्शन है। सचमुच एक ओर मनु और महाभारत तथा दूसरी ओर राव बहादुर रानडे के बीच कोई सादृश्य नही है! 'सहमति वय' बिल पास होने के बाद तिलक ने आवेश में आकर 'केसरी' में लिखा कि, "रानडे, भण्डारकर और तैलंग जनता के नेता नही है। इसके विपरीत ये वे लोग है जिन्होने जनता को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। इनको समाज से उसी प्रकार काट कर फेक देना चाहिए, जिस प्रकार शरीर के सड़े-गले अंग को काट कर फेंक दिया जाता है।" एक स्थान पर तिलक ने इन तीनों नेताओं को "विद्या से विभूषित दुर्जन" कहा है।

इन तीनों व्यक्तियों में से किसी ने भी कभी गाली का उत्तर गाली से नही दिया । उनकी ओर से जो सबसे कठोर शब्द कहे गए वे भण्डारकर ने कहे । उन्होंने कहा, कि, "सन् 1864 से निरन्तर मैं साहित्यिक वादविवादों में भाग लेता रहा हूं, लेकिन जैसी अशिष्टता का व्यवहार तिलक ने मेरे साथ किया है, वैसा कभी भी किसी प्रतिपक्षी ने नही किया । इससे मेरा काम अप्रिय और दुखपूर्ण बन गया है ।" तिलक की गाली-गलौज को रानडे ने जिस धैर्य और क्षमाशीलता से सहन किया, उससे पता चलता है कि उनका व्यक्तित्व कितना महान और उनका हृदय कितना विशाल था ।

तिलक के जोरदार, दुराग्रही और सतत प्रचार के कारण, महाराष्ट्र के शिक्षित वर्ग में रानडे और उनके साथियों की जो प्रतिष्ठा पहले थी, वह अब नही रही। तिलक के स्वयं महान विद्वान होने के कारण भी उन लोगों की प्रतिष्ठा में अन्तर आया । अब रानडे महाराष्ट्र के विद्वानों के निर्विवाद और एक मात्र नेता नहीं रह गए थे। इसके बाद से केवल रानडे की पार्टी थी और उसकी विरोधी तिलक की पार्टी थी। समाज-सुधारकों की संख्या हमेशा कम होती है और सामान्य रूप से लोग उन्हें पसन्द नहीं करते। लेकिन तिलक के कारण महाराष्ट्र के समाज-सुधारक विद्वानों की नजरों में उपहास और घृणा के पात्र बन गए। लेकिन सम्पूर्ण जन समाज में शिक्षित लोगों की संख्या भी बहुत कम थी। इसके अलावा तिलक द्वारा फैलाया विष महाराष्ट्र से आगे नहीं जा सका।

पश्चिमी भारत में राजनीतिक क्षेत्र में रानडे की बहुत प्रतिष्ठा थी। तिलक ने राजनीति में भाग लेना आरम्भ कर दिया, लेकिन यहां भी उन्होंने एक ही तरीके से काम किया। वह

सार्वजनिक सभा के सदस्य बन गए। सन् 1889 में उन्होंने 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' में जाना शुरू कर दिया। सन् 1890 में कलकत्ता में और सन् 1891 में नागपुर में उन्होंने 'इंडियन सोशल कांफ्रेंस' के भी दोनों अधिवेशनों में भाग लिया। इन्ही वर्षों में समाज-सुधार का विवाद जोर पकड़ रहा था। सन् 1890 में जब तिलक कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने के लिए गए तो उन्होंने रूढ़िवादी शास्त्रियों द्वारा पास किया गया एक प्रस्ताव अध्यक्ष को दिया, जिसमें प्रार्थना की गई थी कि सोशल कांफ्रेंस का अधिवेशन कांग्रेस के पंडाल में न होने दिया जाय। लेकिन तिलक ने इस प्रस्ताव के पक्ष मे कोई भाषण नही दिया। दूसरे प्रान्तों के नेताओं ने भी 'सोशल कांफ्रेंस' के उसी पंडाल में होने के विषय में कोई ऐतराज नहीं किया, इसलिए शास्त्रियों के प्रस्ताव पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। अब प्रान्तीय राजनीतिक कांफ्रेंस होनी शुरू हो गई। तिलक उनमें भी भाग लेने लगे। सन् 1891 में बम्बई की प्रान्तीय कांफ्रेंस पुणे में हुई, उसने तिलक द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें सहमति-वय बिल पास करने के लिए सरकार का विरोध किया गया और कहा कि सामान्य जनता उसके पक्ष में नही थी, फिर भी सरकार ने उसकी कोई परवाह नही की और बिल पास कर दिया। समाज सुधारकों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। इसके बाद ही गोपाल कृष्ण गोखले ने, जो तिलक के साथ ही प्रान्तीय कांफ्रेंस के एक सचिव थे, अपने पद से इस्तीफा दे दिया। सन् 1892 में सर दिनशा एदुलजी-वाचा और चिमनलाल सीतलवाड़ के साथ-साथ तिलक फिर से संयुक्त सचिव चुन लिए गए। सन् 1893 में रानडे की नियुक्ति हाईकोर्ट के जज के रूप में हो गई। अब वह उतनी स्वतन्त्रता से राजनीति में भाग नहीं ले सकते थे जैसे पहले लेते थे जब वह साधारण

जज थे । रानडे अब बम्बई आ गए थे, लेकिन पुणे के लोग अब भी उनसे सलाह लेते थे और उनकी राय से ही काम करना पसन्द करते थे। वे लोग अब भी उनकी उतनी ही इज्जत करते थे । गोपाल कृष्ण गोखले रानडे के शिष्य थे । सन् 1886 में वह 'डेकन एजूकेशन सोसाइटी' के सदस्य बन गए । वह तिलक और आगरकर के सहकर्मी थे। लेकिन समाज-सुधार के मामलों में, वास्तव में वह आगरकर के विचारों से अधिक सहमत थे। अंग्रेजी भाषा के महान विद्वान होने के कारण वह आगरकर के पत्र 'सुधारक' के अंग्रेजी विभाग के लिए लिखा करते थे। रानडे ने देखा कि उनके अन्दर सार्वजनिक कार्यों के लिए जोश है, वह अच्छे बुद्धिमान हैं तथा अपने से बड़ों के लिए उनके हृदय में बहुत आदर और सम्मान का भाव है । दूसरी ओर गोखले भी रानडे को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे और उनके प्रशंसक बन गए'। एक बार गोखले ने कहा था, "पूरे देश में फैले हुए अनेक नवयुवकों के लिए रानडे सूर्य के समान हैं, जिनसे उन्हें रोशनी और गर्मी मिलती है।" जो नवयुवक कार्यकर्ता उनके व्यक्तिगत और निकट सम्पर्क में आते थे उनके लिए उनका शब्द ही कानून था और उनकी स्वीकृति सबसे बड़ा पुरस्कार था । सन् 1890 में गोखले सार्वजनिक सभा के सचिव चुन लिए गए ।

शुरू में तिलक के और रानडे के गुटों के बीच कोई राजनीतिक मतभेद नहीं थे । अन्य सदस्यों की ही भांति तिलक भी सभी राजनीतिक सभाओं में भाग लेते थे और जिन प्रस्तावों पर आमतौर से सभी लोग सहमत होते थे, उन प्रस्तावों का वह भी समर्थन करते थे । लेकिन सन् 1893 में जो हिन्दू-मुस्लिम उप-द्रव हुए, उनमें पहली बार मतभेद उभरे । जूनागढ़ में हुए

साम्प्रदायिक झगड़ों के कारण पहले बम्बई में फिर पुणे तथा अन्य नगरों मे तनाव पैदा हो गया । तिलक का कहना था कि मुसलमानों को सरकार ने प्रोत्साहन दिया है इसलिए उपद्रव के लिए वे लोग दोषी हैं । लेकिन रानडे के गुट का विचार था कि झगड़ों के लिए सरकार अथवा किसी एक ही सम्प्रदाय को दोषी ठहराना ठीक नही है ।

सन् 1893 में, जब ये उपद्रव हो रहे थे, तिलक ने गणेश चतुर्थी के त्यौहार को नया रूप देने की बात सोची । अभी तक यह उत्सव घरों में ही मनाया जाता था, लेकिन अब तिलक ने उसे सार्वजनिक रूप से मनाने का विचार किया । उन्होंने सुझाया कि सामुदायिक समारोह दस दिनों तक होते रहें, मूर्ति की पूजा करने के लिए लोग धार्मिक भाव से जमा हों, इन सभाओं में कलात्मक और सांस्कृतिक प्रदर्शन हों, भक्ति संगीत हों और साथ ही धर्म की आड़ में राजनीतिक और आर्थिक मामलों पर विद्वतापूर्ण भाषण भी हों । इस धार्मिक आन्दोलन का बड़ा प्रभाव पड़ा । तिलक के अनुयायियों ने इससे बहुत लाभ उठाया । उन्होंने इसके द्वारा धर्म और देशप्रेम की भावना का प्रचार किया । मुसलमानों का पक्षपात करने और उन्हें आक्रामक बनाने की सरकार की नीति का जवाब उन्होंने हिन्दुओं के बीच पूर्ण एकता स्थापित करके दिया । रानडे के गुट ने उन लोगों की सारी नीति की आलोचना की । उनके विचार से धर्म और पूजा बिल्कुल व्यक्तिगत चीज थी और वे चाहते थे कि उसे व्यक्तिगत ही रखा जाए । इसके अतिरिक्त वे कहते थे कि जितने भी देश-प्रेमी हिन्दू और मुसलमान है, उन सबको मिलकर एकात्मता की भावना पैदा करनी चाहिए ।

रानडे गुट का, पहले समाज सुधार के कारण और फिर रानडे की आत्म-संयम की अपील के कारण, तिलक ने विरोध किया और इसीलिए महाराष्ट्र के सामान्य शिक्षित हिन्दुओं के प्रतिनिधि और नेता के रूप में वह उभरे और रानडे का गुट अल्पसंख्यकों की गिनती में आ गया। इन दोनों संघर्षों में तिलक ने सरकार को भी दोषी ठहराया। जब 'सहमति-वय' बिल पास करने के लिए सुधारकों ने सरकार को सलाह दी थी, तो उसने जनता की राय न होने पर भी बिल पास कर दिया, जबकि उसे तटस्थ रहना चाहिए था। हिन्दू मुस्लिम झगड़ों में भी तिलक ने सरकार को आड़े हाथों लिया था। इन सब कारणों से महाराष्ट्र में जनता की आम राय हो गई थी कि सरकार और रानडे का एक पक्ष है और दूसरा पक्ष तिलक और जनता का है।

तिलक बम्बई विधान परिषद के चुनाव के लिए दो उम्मीदवारों के विरुद्ध खड़े हुए, और जीत गए। इनमें एक उम्मीदवार रानडे की पार्टी द्वारा समर्थित था। सार्वजनिक सभा की सत्ता के लिए भी दोनों पार्टियों में संघर्ष हुआ। जुलाई सन् 1895 में तिलक की पार्टी जीत गई और उसने अपने पदाधिकारी चुन लिए। लेकिन रानडे की पार्टी गोपालकृष्ण गोखले को सचिव के रूप में काम करते रहने की आशा दे दी। विरोधी पार्टी के बीच में गोखले अकेले ही थे, इसलिए उन्होंने एक वर्ष बाद त्यागपत्र दे दिया। तिलक की पार्टी का दावा था कि केवल वही पुणे की जनता का प्रतिनिधित्व करती है। थोड़े ही दिनों में यह बात स्पष्ट भी हो गई। जब दीपावली की छुट्टियों में रानडे पुणे गए तो उन्होंने डेक्कन सभा नाम की एक नई संस्था स्थापित की, जिससे सार्वजनिक कार्य करने के लिए उनके अनुयायियों को भी अवसर मिल सके। इस बात पर तिलक अत्यन्त क्रोधित

हो गए। उन्होंने कहा कि बेकन की भांति रानडे विद्वान तो हैं लेकिन नीच प्रकृति के है।

तिलक, गोखले और गाडगिल, पुणे में सन् 1895 में, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में होने वाली 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्वागत समिति के सचिव थे। गोखले, गाडगिल तथा स्वागत समिति के अधिकांश सदस्य रानडे की पार्टी के थे। इन सचिवों का खास काम था कांग्रेस अधिवेशन के लिए धन इकट्ठा करना। नग्दार वाला साहब नातु और एन० बी० दाते के नेतृत्व में पुणे के रूढ़िवादियों के एक दल ने चन्दा न देने के लिए, लोगों को रोकना शुरू कर दिया। उन्होंने कहा कि जब तक यह आश्वासन नहीं दिया जाएगा कि कांग्रेस के पंडाल में सोशल कान्फ्रेंस की सभा नहीं होगी, तब तक हम किसी को चन्दा नहीं देने देंगे। यद्यपि तिलक व्यक्तिगत रूप से उन लोगों से सहमत थे फिर भी उन्होंने अपील की कि बिना किसी शर्त के कांग्रेस के लिए चन्दा दिया जाए क्योंकि कांग्रेस की सफलता सबसे अधिक महत्व की बात है। रूढ़िवादी पार्टी ने एक बड़ी सभा का आयोजन किया और तिलक और उनके मित्र नामजोशी तथा कुछ अन्य लोगों ने उसमें भाषण दिए। उसमें प्रस्ताव पास किए गए और यह मांग की गई कि स्वागत समिति का निर्माण फिर से होना चाहिए जिसके सचिव तिलक हों, और 'सोशल कांफ्रेंस' और 'नेशनल कांग्रेस' के आपसी सम्बन्ध विच्छेद कर दिए जाएं। इस मांग के कारण पार्टी के अन्दर ही कहा-सुनी हो गई। परिणाम स्वरूप तिलक ने स्वागत समिति के सचिव पद से त्यागपत्र दे दिया। अब वे सोशल कांफ्रेंस के विरुद्ध अपनी व्यक्तिगत राय देने के लिए स्वतन्त्र थे। रूढ़िवादी पार्टी का नेतृत्व एस० बी० दाते कर रहा था जो हट्टा कट्टा और धनी था, पर गंवारू और अभद्र भाषा बोलता था। वह

तिलक का मित्र था। उसने धमकी दी कि अगर कांग्रेस के पंडाल में सोशल कान्फ्रेंस की सभा की जाएगी तो हमारे आदमी झगड़ा करेंगे और पंडाल में आग लगा देंगे। एक प्रमुख समाज सुधारक, जब ड्रामा देखकर घर वापिस जा रहा था तो उसके सिर पर डंडे से प्रहार किया गया। तिलक ने सभी जगहों की सभी कांग्रेस कमेटियों को अत्यावश्यक अपीलें जारी कर दीं कि वे कमेटी की सभाओं और सार्वजनिक सभाओं दोनों में, कांग्रेस पंडाल में सोशल कान्फ्रेंस की मीटिंग करने के विरोध में प्रस्ताव करें और उन्हें कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति को भेजें। कई कांग्रेस कमेटियों ने उनकी आज्ञा का पालन किया। अधिकांश समाचार पत्रों को दंगे की आशंका होने लगी, इसलिए उन्होंने कांग्रेस को अपना बहुमत प्रदर्शित न करने की सलाह दी और कहा कि दोनों सभाओं को अलग-अलग स्थानों में आयोजित करना चाहिए। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा कुछ अन्य लोगों की व्यक्तिगत प्रार्थना पर सोशल कान्फ्रेंस के सचिव रानडे ने घोषणा की कि सोशल कान्फ्रेंस की मीटिंग कांग्रेस के पंडाल में नहीं की जाएगी। इस प्रकार तिलक पार्टी और रूढ़िवादी पार्टी दोनों की विजय हुई।

देश की भलाई के लिए रानडे ने जो कुछ किया, उसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। लेकिन उनके कट्टर विरोधी तिलक के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें देशभक्ति की कमी थी, या वे समाज सुधार के विरोधी थे, अथवा वे येनकेन प्रकारेण जनता के मान्य नेता बनना चाहते थे। देशभक्ति में तिलक का स्थान पहला था, देश के लिए कष्ट उठाने में वे अग्रणी थे। स्वतन्त्रता संग्राम में उनका साहस करोड़ों लोगों को प्रेरणा देने वाला था परन्तु देश की तत्कालीन परिस्थितियों के विषय में उनके विचार और धारणाएं रानडे

से विलकुल भिन्न थी। यही कारण था कि उन दोनों के बीच मतभेद पैदा हो गए।

उस समय के अन्यायपूर्ण और क्रूर सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण रानडे का मन बहुत अशान्त था। उनकी तुलना में वे राजनीतिक पराधीनता को महत्वहीन समझते थे। इससे विपरीत तिलक और चिपलूंकर का कहना था कि हमारे सामाजिक ढांचे में मूल रूप से कुछ भी खराबी नहीं है, विदेशी राज्य ही सब विपत्तियों की जड़ है। रानडे चाहते थे कि सामाजिक और राजनीतिक सुधारों का काम साथ-साथ चले, पर तिलक का विचार था कि पहले राजनीतिक क्षेत्र में मुक्ति मिलनी चाहिए, सामाजिक सुधार बाद में भी हो सकते हैं। जिन प्रचलित सामाजिक बुराइयों को दूर करने की बात सुधारक लोग किया करते थे, उन्हें वह खूब अच्छी तरह समझते थे और वह व्यक्तिगत रूप से स्वयं भी सुधारक थे। उन्होंने अपनी बेटियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी स्कूलों में भेजा, 16 वर्ष की आयु से पहले उनका विवाह नहीं किया, अपने घर में वह छुआछूत और जातिभेद नहीं मानते थे। अपनी विधवा बेटी का फिर से विवाह करने के लिए उन्होंने भण्डारकर को, और स्वयं एक विधवा से विवाह करने के लिए कर्वे को बधाई दी। उन्हें समाज सुधार से नहीं, समाज सुधार के आन्दोलन से आपत्ति थी। उनका कहना था कि राजनीतिक कार्य, समाज सुधार के कार्य से केवल पहले ही नहीं होना चाहिए, बल्कि तब तक निरन्तर होते रहना चाहिए जब तक कि देश को स्वतन्त्रता न मिल जाए। समाज सुधार का काम तो बाद में भी हो सकता है। रानडे राजनीतिक प्रगति को विकास-साध्य मानते थे। तिलक ने यद्यपि आरम्भ में कभी यह प्रकट नहीं किया, लेकिन वह समझते थे कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता

प्राप्त करने के लिए, लोगों में ऐसी राष्ट्रीय भावना होनी चाहिए कि सभी लोग सामूहिक रूप से एक होकर प्रतिरोध कर सकें, जबकि समाज सुधार से लोग सुधारकों और रूढ़िवादियों के दो विरोधी दलों में विभाजित हो जाएंगे। सामाजिक मामलों में सरकार द्वारा कानून बनाने की रानाडे की दलील के विरुद्ध तिलक को कई आपत्तियां थीं :—जिस बुराई को 'सहमति-वय' बिल से दूर करने का प्रयत्न किया गया वह इतनी भयानक नहीं थी, जितनी कि सती-प्रथा और शिशु हत्या की प्रथा। जिस सरकार से सहायता ली गई थी, वह एक विदेशी सरकार थी, जिससे हमें भिखारियों की तरह सहायता की मांग नहीं करनी चाहिए। अन्त में जनता समाज-सुधार सम्बन्धी कानूनों के विरुद्ध थी। भारत स्वतन्त्र होता तो उसकी लोकतान्त्रिक विधान सभा ऐसे कानून कभी पास नहीं कर सकती थी जैसा कि उन्होंने 1880 में बिल पास किया। यद्यपि तिलक ने अपने ये विचार कभी व्यक्त नहीं किए, लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि वह ऐसा ही सोचते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी बहुत-सी गलतियों का समाधान किया जा सकता है और उनके लिए उन्हें क्षमा भी किया जा सकता है। समाज सुधारकों द्वारा निरन्तर पश्चिमी सभ्यता की प्रशंसा और भारतीय समाज की निन्दा किए जाने के कारण उन्होंने अनुमान लगाया कि वे केवल पश्चिमी रीति-रिवाजों की ही नकल करना चाहते हैं, जबकि तिलक उनको अभिशाप समझते थे। रानडे ने उन्हें बहुत समझाने की कोशिश की कि हमारे देश के स्वर्णकाल में जो रीति-रिवाज प्रचलित थे, उनको ही फिर से हम चलन में लाना चाहते हैं, और इसीलिए यह समाज सुधार का अभियान चलाया जा रहा है। लेकिन तिलक और उनके साथियों की समझ में कुछ नहीं आया। उन्हें यह बहुत घिनौनी बात मालूम हुई कि रानडे और मालाबारी जैसे और दो चार गिने चुने लोगों ने विदेशी

सरकार से मिल कर बिल पास करवाया, जिसका विरोध देशवासी भारी संख्या में कर रहे थे। इसी बात से वह बहुत क्रोधित हो गए थे। इस प्रकार वे रानडे जैसे सच्चे देशभक्तों को शंका की नजर से देखने और उन्हें अपना विरोधी समझने लगे। लेकिन रानडे की दृष्टि स्पष्ट और विचार उच्च थे। तिलक के तीखे और प्रचण्ड विरोध के विषय में मद्रास में अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा, "यह दो सच्चे व्यक्तियों का सच्चा संघर्ष है।"

अध्याय 17

गुरु और शिष्य

तिलक के दल ने रानडे के विरुद्ध जो ववंडर खड़ा किया वह ऊंचा तो वहुत उठा, परन्तु अन्य प्रान्तों में नहीं पहुंचा। उनके विरुद्ध जो प्रचार हुआ वह सव मराठी पत्रों में और महाराष्ट्र की की सभाओं में ही हुआ। इसलिए उनका विरोध महाराष्ट्र तक ही सीमित रहा। अन्य किसी जगह कांग्रेस के पंडाल में सोशल कांफ्रेंस की मीटिंग करने पर किसी ने आपत्ति नही की। रानाडे का अखिल भारतीय राजनीतिक कार्यक्रम, पहले जैसा ही चलता रहा, और सभी स्थानों में उनका प्रभाव भी पहले जैसा ही रहा। उनके पूरे जीवन भर वड़े-वड़े राजनीतिक नेता उनका सम्मान करते रहे और अनेक मामलों में उनसे सलाह लेते रहे। नेशनल कांग्रेस के खुले अधिवेशन में प्रस्तुत किए जाने से पहले वह उसके प्रस्तावों को भी वनाते थे। सन् 1899 में जव लखनऊ में कांग्रेस का सत्र समाप्त हो गया, तव उसके अध्यक्ष रमेश चन्द्र दत्त ने सोशल कांफ्रेंस में भाषण दिया, और कहा, "इस कार्यवाही में भाग लेने में गर्व का अनुभव करता हूं, क्योंकि हम सभी जानते हैं कि इनका आयोजन न्यायाधीश रानडे जैसे महान और प्रतिष्ठित सज्जन ने किया है। जिस प्रकार आप लोग लखनऊ में उनका आदर करते हैं, उसी प्रकार हम लोग भी कलकत्ता में उनका आदर करते हैं। एक वार श्रीनिवास शास्त्री ने लिखा कि कांग्रेस की विषय-समिति के विचार-विमर्श में भाग लेते हुए उन्हें सदा देखा जा सकता था। हर प्रकार की कठिनाई उनके सामने पेश की जाती थी।

हर संकट के समय वह अपने महान व्यक्तित्व का प्रयोग करते और उसका निवारण करते । उस समय के कांग्रेसी जो स्वयं भी बड़े प्रभावशाली थे, यह देखकर बड़े गर्व का अनुभव करते थे कि अनेक बार रानडे ने उन्हें प्रगति के सीधे रास्ते पर अग्रसर किया ।' पुणे में रानडे के ऊपर जो कीचड़ उछाली गई उससे देश की नजरों में रानडे की छवि जरा भी धूमिल नहीं हुई।

पुणे में भी अधिकांश जनता रानडे की प्रशंसक थी। उनमें अधिक योग्य व्यक्ति गोपाल कृष्ण गोखले भी उनके भक्त थे। वह रानडे के शिष्य थे। गुरु के रूप में रानडे ने जिस प्रकार गोखले का मार्गदर्शन किया, उन्हें शिक्षा दी और प्रशिक्षित किया तथा गोखले ने भी जिस प्रकार आदरपूर्वक अपने गुरु का अनुशासन माना वह भारत के राजनीतिक इतिहास में अद्वितीय है । गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म सन् 1866 में हुआ था । सन् 1885 में बी० ए० पास करने के बाद वह चिपलंकर, तिलक और आगरकर द्वारा स्थापित किए गए "न्यू इंगलिश स्कूल" में शिक्षक बन गए। एक वर्ष बाद वह "डेकन एजुकेशन सोसाइटी" के आजीवन सदस्य बन गए। जब वह फर्गुसन कालेज मे प्रोफेसर थे तब उनके अच्छे शिक्षक के सभी अच्छे गुण प्रकाश में आए—जैसे, विषय पर अधिकार, भाषा में प्रवाह और सही अभिव्यक्ति । जब कभी तिलक और आगरकर के बीच आदर्श संबंधी वाद-विवाद होता तब वह राष्ट्रवादी और समाज सुधारक आगरकर के विचार से ही सहमत होते थे। उस समय रानडे पुणे में थे। उस समय सार्वजनिक सभा के प्रमुख कार्यकर्त्ता एस० एच० साठे के साथ बात-चीत के दौरान आगरकर ने गोखले की बहुत प्रशंसा की । एस० एच० साठे गोखले की बुद्धिमानी और गुणों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उनकी भेंट सन् 1889 में रानडे से कराई ।

रानडे सदा ऐसे ही नवयुवकों की खोज में रहते थे जिनमें सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के गुण विद्यमान होते थे। उनके सद्गुणों को उभारने की भी रानडे के अन्दर भारी क्षमता थी। गोखले की आयु उस समय केवल तेईस वर्ष की थी। रानडे जैसे वरिष्ठ राजनीतिज्ञ के संरक्षण में काम करने का संयोग पाकर उनको अत्यंत प्रसन्नता हुई। रानडे ने जो भी काम गोखले को सौंपा उन्होंने वह बड़ी तत्परता से सम्पन्न किया। रानडे के प्रति गोखले का आदर भाव और गोखले के प्रति रानडे का स्नेह दिन पर दिन बढ़ता गया और अंत में उन दोनों के बीच गुरु–शिष्य का नाता स्थापित हो गया। सार्वजनिक सभा द्वारा सरकार को भेजे जाने वाले अभ्यावेदनों के प्रारूप रानडे गोखले से बनवाते थे। सबसे पहले वह सार्वजनिक मामलों के दस्तावेजों या रिपोर्टों का केवल संक्षिप्त विवरण लिखवाते और बाद में अभ्यावेदनों के प्रारूप लिखवाकर सार्वजनिक सभा को भेज देते थे, जो बाद में सरकार के पास भेज दिए जाते थे। कोई भी प्रारूप तैयार करने से पहले रानडे उनसे उसके विषय में बातचीत करते और बतलाते कि उसमें क्या-क्या लिखना है, तथा वह किस तरह से लिखा जाएगा। जब वह तैयार हो जाता था, तब रानडे उसे पूरा पढ़ते, कुछ सुझाव देते और संशोधन करते। इसके बाद उनकी बतलाई गई सब बातों को ध्यान में रखते हुए गोखले दुवारा प्रारूप लिखते थे। गोखले यह सब स्वेच्छा से ही करते थे और इसके लिए उन्हें कुछ भी पारिश्रमिक नहीं दिया जाता था। यह काम गोखले को कभी बुरा नही लगा कि कभी उन्होंने करने में आनाकानी की हो और न कभी उन्होंने कोई शिकायत ही की। वह गुरु की आज्ञा का पालन मन लगाकर इसलिए करते थे कि वह

प्रसन्न हो जाएं। गोखले चाहे कितना ही अच्छा कार्य करके लाते, लेकिन रानडे कभी उनकी तारीफ नहीं करते थे। बस यही कह देते थे कि 'ठीक है'। रानडे की संतुष्टि ही गोखले के लिए भारी पुरस्कार था और वह उसे ही काफी समझते थे। जितना ही गोखले रानडे के निकट आते गए उतना ही उनकी सच्ची महानता और सद्गुणों से अवगत होते गए। उन्होंने देखा कि रानडे के अन्दर साधुता, देशभक्ति, मानव जीवन के सभी पहलुओं का पूर्ण ज्ञान, विद्वता गंभीर विचार, सच्ची शिक्षा और काम करने का उत्साह जैसे सद्गुण मौजूद हैं। उन्होंने रानडे के ऊपर एक भाषण दिया था, उसी से यह स्पष्ट था कि गोखले उनके इन सभी गुणों से प्रभावित थे।

सन् 1890 में गोखले सार्वजनिक सभा के सचिव चुने गए और उसकी त्रैमासिक पत्रिका के सम्पादक भी बन गए। रानडे ने इस पत्रिका का स्तर ऊंचा बना कर रखा था तथा तथ्यों की विश्वसनीयता, विचारों की व्यापकता और निष्कर्षों की प्रामाणिकता के कारण सभा की अच्छी ख्याति हो गई थी। रानडे ने गोखले को ऐसा प्रशिक्षण दिया था, जिससे उनके अंदर विवेचनात्मक क्षमता, संतुलित विचार, मामले को हर पहलू से देखने-परखने की योग्यता, सभी संबंधित तथ्यों और आंकड़ों को जांचने का अध्यवसाय तथा लिखने की उपयुक्त शैली आदि गुणों का प्रादुर्भाव हो गया था। रानडे ने गोखले को सिखाया था कि 'भाषा में नहीं बल्कि विचारों में बल होना चाहिए।' गोखले ने तदनुसार ही अपनी शैली बदल ली। सन् 1889 में गोखले ने पहली बार 'बम्बई के कांग्रेस अधिवेशन' में भाग लिया। उन्होंने उसमें इस प्रस्ताव का समर्थन किया था कि आई. सी. एस. की परीक्षाएं भारत और इंग्लैंड में साथ-साथ होनी चाहिए। दूसरे साल उन्होंने

भारत से संबंधित आर्थिक आंकड़ों के अध्ययन का निश्चय किया। रानडे ने उनकी भेंट अपने मित्र तथा भारतीय आंकड़ों के योग्य विद्वान गणेश व्यंकटश जोशी से करवाई। एक परिचय पत्र में उन्होंने जोशी को लिखा, "गोखले पिछले छः महीनों से मेरे पास काम कर रहा है। उसकी महती क्षमता और योग्यता तथा किसी भी परिस्थिति में सफलता से काम करने की लगन देखकर मेरे हृदय में उसके लिए उच्च भावना उत्पन्न हो गई है। मानसिक तथा नैतिक रूप से यह सचमुच ही ईमानदार विद्यार्थी है। मुझे विश्वास है कि वह आपके लिए एक सहयोगी सिद्ध होगा।" इसके बाद वह कांग्रेस के सभी अधिवेशनों में भाग लेते रहे —भाषण देते रहे। उनके भाषणों में वे सभी गुण थे, जो रानडे ने सिखाए थे। जैसे तथ्यों का विश्लेषण, तर्कपूर्ण विचार, सुन्दर और संयत भाषा।

जिस समय गोखले सचिव थे, उस समय पूणे में 1895 में कांग्रेस के पंडाल में सोशल कांफ्रेंस की मीटिंग न करने के विषय में वाद-विवाद, तिलक दल द्वारा सार्वजनिक सभा का हथिया-लेना जिसके परिणाम स्वरूप गोखले को त्यागपत्र देना पड़ा और रानडे द्वारा 'डेकन सभा' का निर्माण आदि घटनाओं का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इसके थोड़े दिन बाद ही लार्ड वेलबी की अध्यक्षता में एक शाही आयोग भारत में व्यय के प्रशासन और प्रबंध की जांच-पड़ताल करने के लिए नियुक्त किया गया। इससे भारतीय नेताओं को प्रभावशाली अंग्रेजी समाज को यह बतलाने का अच्छा मौका मिला कि भारत के साथ कितना अन्याय हुआ है। लेकिन इसके लिए तथ्यों, आंकड़ों तथा तर्कों का अकाट्य होना आवश्यक था। वाचा, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और जी. सुब्रह्मण्यम ऐयर जैसे बड़े-बड़े अनुभवी

राजनीतिक नेताओं के साथ गवाही देने के लिए गोखले को भी लन्दन भेजा गया। रानडे और जी. वी. जोशी दोनों के निर्देशन में गोखले ने अपनी गवाही तैयार की। उसकी अंतिम प्रति उन्होंने जहाज पर ही तैयार की थी। उस समय गोखले की आयु केवल तीस वर्ष की थी। रानडे और जोशी ने, जो उस समय पुणे से बाहर थे, अंतिम प्रति नहीं देखी थी, इसलिए उन्हें चिंता थी। रानडे ने इंग्लैंड में दादाभाई नौरोजी और वेडरबर्न को लिखा कि वे गोखले के प्रारूप को देख-पढ़ लें और जहां आवश्यक समझें वहां उसमें सुधार कर दें। उन लोगों ने गोखले के प्रारूप को पढ़ा और उसे बिलकुल ठीक पाया। आयोग के कुछ विरोधी सदस्यों ने गोखले से अनेक उलटे-सीधे प्रश्न पूछ डाले, फिर भी उनके लिखे हुए और मौखिक दोनों ही साक्ष्य सफल रहे। वेडरबर्न, दादाभाई और केने सहित अनेक लोगों ने उनकी बहुत प्रशंसा की। योग्य न्यायाधीशों की ये प्रशस्तियां गोखले ने जी. वी. जोशी को भेज दीं और लिखा कि, 'राव साहब (रानडे) के बाद यह सारी प्रशंसा आपकी प्रशंसा है।' उन्होंने रानडे को लिखा कि, 'यदि आपको समय मिले तो आप पूरे बयान को पढ़ लीजिए। यदि आप उससे संतुष्ट होंगे तो मैं समझूंगा कि मुझे मेरा पुरस्कार—मेरा पारिश्रमिक मिल गया। बस, फिर मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।'

वेलबी आयोग के सामने गोखले को जो असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी, एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना के कारण उसका महत्व फीका पड़ गया। जिस समय गोखले इंग्लैंड में ही थे, पुणे में व्यापक रूप से प्लेग फैल गई और सरकार ने इस विनाशक बीमारी के निवारण के लिए काफी जोरदार उपाय किए। अब चारों ओर यह खबर फैल गई कि अंग्रेज सैनिकों ने बचाव

कार्य के दौरान बहुत गलत काम किए हैं, जिनमें स्त्रियों के साथ बलात्कार भी शामिल है। भारतीयों में बहुत जोर से क्रोध भड़क उठा और कुछ मित्रों ने यह सब गोखले को भी जा सुनाया। गोखले ने सोचा कि ब्रिटिश पत्रों में इसका प्रचार किया जाए। बम्बई की सरकार ने कहा कि इस तरह की रिपोर्टों में कोई तथ्य नही है। गोखले या तो उनको सिद्ध करें या क्षमायाचना करें। जब वह भारत वापस आए तो उन्हें कोई प्रमाण नही मिले। ऐसी बातों के प्रमाण भारत में मिलने अत्यंत कठिन थे। रानडे ने उन्हें सार्वजनिक रूप से क्षमा-याचना करने की सलाह दी। गोखले अत्यंत क्षुब्ध थे। झूठा दोष लगाने के कारण एंग्लो इंडियन भी रुष्ट थे। तिलक के दल ने उन्हें बड़ी तरह लताड़ा और कहा कि मामले की सच्चाई को सिद्ध करने के लिए उन्होंने संघर्ष क्यों नहीं किया, डरपोक क्यों बने और जेल क्यों नहीं गए। मुसीबत के इस समय में रानडे ने उनका साथ दिया और उनको तसल्ली दी। जब अमरावती में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो गोखले उसमें भाग लेने में हिचकिचाने लगे। लेकिन रानडे ने उनको ढाढस बंधाया और अपनी आन्तरिक शक्ति के सहारे जनता का सामना करने के लिए हिम्मत बंधाई।

भारतीय राजनीति और अर्थशास्त्र के विषय में गोखले ने रानडे के विचारों को आत्मसात कर लिया था। उनकी परम्परा को वह अपने गुरु की मृत्यु के बाद भी निभाते रहे। राजनीति में उस परम्परा का संक्षिप्त विवरण एक अनुच्छेद में मिलता है जो रानडे ने अपनी कलम से "डेकन सभा" के घोषणापत्र में लिखा था। उन्होंने लिखा कि 'उदारतावाद और मध्यम मार्ग इस संस्था के आदर्श वाक्य होंगे। उदारतावाद का मतलब है

कि जाति और धर्म के भेद को भुला कर मनुष्यों के बीच न्याय की भावना का प्रादुर्भाव हो, शासकों के प्रति उचित निष्ठा रखी जाए तथा कानून का पालन किया जाए, पर साथ ही शासितों को समानता का अधिकार भी मिले, जिसका कानूनन उन्हें अधिकार है। मध्यम मार्ग का मतलब है बीच का रास्ता अपनाना, जिस वस्तु को या जिन आदर्शों को प्राप्त करना असंभव है, उनकी व्यर्थ इच्छा न करना, वल्कि जो कुछ हमारी पहुंच के अन्दर है, उसे समझौता भावना और ईमानदारी से करते हुए, स्वाभाविक रूप से, प्रतिदिन आगे कदम बढ़ाते जाना। इस उद्धरण पर ध्यान देने से पता चलेगा कि रानडे — परम्परा के अनुयायी पूर्ण राजभक्त नहीं वल्कि उदारतावादी राजभक्त थे और वे अतिवादी नहीं, वल्कि मध्यममार्गी थे। जिन सिद्धान्तों का इस उद्धरण में वर्णन किया गया है, परवर्ती वर्षों में गोखले के राजनीतिक विचार सदा उन्हीं पर आधारित रहे।

रानडे की शिक्षाओं के अनुसार तो गोखले काम करते ही थे, वह उनको आदर्श मानकर उदाहरण ध्यान में रखकर भी सब काम करते थे। रानडे की तरह गोखले भी अत्यंत देशभक्त थे। रानडे की देशभक्ति से वह अत्यंत प्रभावित थे। गोखले ने कहा कि "जो भी लोग रानडे के संपर्क में आते थे वे पहली ही बार में उनके महान व्यक्तित्व में विद्यमान शुद्ध, जोश पूर्ण और गभीर देशभक्ति मे प्रभावित हो जाते थे। उनके अतिरिक्त मैं केवल एक ही व्यक्ति से मिला हू, जो दिन-रात अपने देश के हित के लिए चिंतित रहते हैं और उसी के लिए सोच-विचार करते रहते है, और वे हैं दादाभाई नौरोजी। उनके लिए भारत का अतीत महान था और उस पर उन्हें गर्व था। लेकिन अतीत से अधिक उन्हें वर्तमान और भविष्य की चिन्ता थी और सुधार

के विभिन्न क्षेत्रों में जो आश्चर्यजनक कार्य उन्होंने किए उनकी जड़ में यही बात थी।" गोखले ने रानडे की देशभक्ति को प्रखर प्रगतिशील और रचनात्मक बतलाया है। ये सभी गुण गोखले में भी आ गए थे। इनके अलावा निम्नांकित गुण भी उन्होंने अपने गुरु से प्राप्त किए, जैसे—सज्जनता, क्षमादान, धैर्य तथा दूसरों को दोष देने से पहले भलिभांति विचार।

उनके गुरु का जो उत्कृष्ट प्रभाव गोखले के ऊपर पड़ा, उसे उन्होंने आध्यात्मिक अनुभव की संज्ञा दी : "यह कहना अत्युक्ति न होगा कि जो लोग भी उनके निकट सम्पर्क में आए उन्हें लगता था कि वे किसी पवित्र स्थान में आए हैं। उनकी उपस्थिति में कोई 'अभद्र और नीच, बात कहना तो दूर रहा, वैसा सोचा भी नहीं जा सकता था। केवल दादाभाई नौरोजी एक दूसरे व्यक्ति हैं, जिनका वैसा ही प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा है।"

❖

अध्याय 18

समाज-सुधार का दर्शन

रानडे समाज-सुधार आन्दोलन के महान दर्शनकार भी थे और प्रवर्तक भी थे। डब्ल्यू० वी० पटवर्धन ने लिखा है, लगभग 20-30 वर्षो तक रानडे सुधार आन्दोलन के प्राण रहे। उन्होंने आन्दोलन का आयोजन किया, विभिन्न सुधारकों की विभिन्न शक्तियों और क्रियाकलापों को समन्वित किया और आन्दोलन को नया रूप दिया तथा प्राचीन से उसका सामंजस्य बैठाकर उसमें वह सब शामिल कर दिया जो हमारी परम्परा में अच्छा और महत्वपूर्ण था।"

सन् 1888 से 1900 तक जितनी भी 'इंडियन नेशनल सोशल कांफ्रेंसें' हुई, उनमें हर साल यह अपने भाषण में बतलाते थे कि पिछले साल समाज-सुधार को प्रोत्साहन देने के लिए भारत के विभिन्न भागों में क्या-क्या कार्य किए गए। उसके बाद वे सामाजिक और नैतिक आधार पर सुधारकों से और भी अधिक काम करने को अपील करते थे। समाज-सुधार के लिए यदि कोई थोड़ा-सा भी काम करता तो रानडे उसकी प्रशंसा करते थे, चाहे वह काम कितना ही छोटा हो और चाहे वह किसी रूढ़िवादी ने क्यों न किया हो। यदि किसी रूढ़िवादी जाति की कोई छोटी-सी संस्था भी विवाहों में कम पैसा खर्च करने के बारे में प्रस्ताव पास करती या कट्टरपंथी पंडितों की कोई संस्था ऐसी व्यवस्था पर हस्ताक्षर करती जिससे विदेशों से वापस आने वाले लोगों के फिर से जाति में शामिल कर लेने के मार्ग में आने वाली बाधाएं कुछ

कम होती, तो रानडे ऐसी घटनाओं का उल्लेख अपने भाषण में जरूर करते थे। इन वार्षिक रिपोर्टों मे उन लोगों को प्रोत्साहन मिलता था, जो इस आन्दोलन के अत्यधिक विरोध के कारण निराश हो जाते थे। इससे उन लोगों को भी सात्वना मिलती थी, जो मानसिक उत्पीड़न से पीड़ित थे।

समाज-सुधार और समाज सेवा में भेद करना आसान नही है। रानडे के समाज-सुधारों की सूची में कुछ ऐसे भी सुधार थे, जो समाज सेवा के अन्तर्गत आते है। सन् 1894 म, रानडे के कहने पर, ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर, जो हमारे महत्वपूर्ण सामाजिक हितों को प्रभावित करते है, प्रबुद्ध व्यक्तियों के विचार जानने के लिए, समाज-सुधार सम्बन्धी एक प्रश्नमाला जारी की गई। अनिवार्य शिक्षा, स्कूलों में खेल का मैदान, स्कूल छात्रावास, पुस्तकालय, व्यायामशाला और भिखारी समस्या आदि विषय उस प्रश्नमाला में सम्मिलित किए गए। इन विषयों के बारे में सैद्धान्तिक रूप मे सुधारकों और रूढ़िवादियों के विचारों में कोई अन्तर नही था। लेकिन रानडे के समाज-सुधार के कार्यक्रम में दो ऐसी बातें थी, जो ध्यान आकर्षित करती हैं, एक तो हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक झगडों से अलग रहना और दूसरे जिन हिन्दुओं ने पहले अपना धर्म-परिवर्तन कर लिया हो और वे फिर हिन्दू धर्म में आना चाहते हों, उन्हें इसकी आज्ञा दी जाए। रानडे ने बड़ी उत्सुकता से अपने संवाददाताओं से पूछा, "क्या आप लोगों के शहर में यह सम्भव नही हो सकता कि दोनों सम्प्रदायों के नेताओं की एक कमेटी बनाई जाए जो झगडे होने पर उन्हें मैत्री भाव से निपटा ले और दोनों में सद्भाव बनाए रहे।" यदि धर्म परिवर्तित व्यक्ति फिर से हिन्दू धर्म में आ जाता तो वे इसका उल्लेख सामाजिक सुधार के अपने वार्षिक कार्य-

विवरण में करना कभी न भूलते। उन्होंने लिखा है—"मध्य प्रान्त में जबलपुर के बड़े-बड़े पंडितों ने वहां के एक ईसाई को वापस हिन्दू धर्म में ले लिया"। आर्यसमाज दूसरे धर्मों में गए हुए लोगों को वापस लेने के लिए प्रसिद्ध है। लेकिन इस प्रकार हिन्दू धर्म में लोगों को वापस लेने में उनका अभिप्राय यह नहीं था कि हिन्दुओं की संख्या बढ़े बल्कि यह था कि उन्हें अपनी पसंद का धर्म स्वीकार करने का अधिकार मिले। यदि कोई ईसाई या मुसलमान हिन्दू धर्म में आना चाहे तो उनको रोकना उसके धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार को छीनना है। स्वयं हिन्दू धर्म के तत्कालीन रिवाज ही ऐसे थे जो उसे इस अधिकार से वंचित करते थे। जब रानडे ने देखा कि, एक रूढ़िवादी पार्टी का समाचारपत्र ही धर्म-परिवर्तन का समर्थन कर रहा है, तो उन्होंने अनुभव किया कि 'अनपेक्षित दिशा' से ही समर्थन प्राप्त हो रहा है। रूढ़िवादी विचार का प्रतिनिधित्व करनेवाले इस समाचारपत्र ने हिन्दू समुदाय से अपने अलगाव की प्राचीन भावना को त्याग देने, और जो लोग अपने पुराने धर्म को फिर से अपनाना चाहते हैं, उन्हें खुले दिल से प्रसन्न होकर स्वीकार करने तथा इस प्रकार राष्ट्र को आत्महत्या के खतरे से बचाने के लिए जो अपील की है, उससे अधिक हृदयग्राहक और कुछ सत्य नहीं हो सकता।" परन्तु रानडे फिर से हिन्दू धर्म स्वीकार करने पर जोर इसलिए नहीं देते थे कि इसमें 'राष्ट्र आत्महत्या' या विनाश से बच जाएगा, बल्कि इसलिए देते थे कि इससे लोगों को कोई भी धर्म अपनाने की स्वतन्त्रता मिलेगी और वे अपने अन्तःकरण की पुकार पर फिर से अपने पुराने धर्म में आ सकते हैं।" इस आधार पर वह किसी भी धर्म को स्वीकार करने के लिए लोगों को पूरी

स्वतंत्रता देने के पक्ष में थे। वह कहते थे कि अन्तःकरण की आवाज के अनुसार धर्म परिवर्तन की स्वतंत्रता केवल हिन्दुओं को ही नहीं, सबको होनी चाहिए।

रानडे ने समाज-सुधार के लिए किए गए प्रयासों का विश्लेषण करके चार तरीके बताए। पहला तरीका, परम्परा का अर्थात् प्राचीन धर्मशास्त्रों के आधार पर सुधार करना। सुधारक लोग प्राचीन धर्मग्रन्थों को सुधार का आधार मानते थे, और उनकी नए ढग से व्याख्या करके समाज-सुधार का समर्थन करते थे। रानडे अतीत से एकदम अलग नहीं होना चाहते थे इसलिए उन्होंने इस तरीके का बहुत उपयोग किया। सन् 1870 में उन्होंने विधवा विवाह के लिए वैदिक प्रमाण शीर्षक से एक लेख लिखा, सन् 1888 में, "शिशु विवाह के विषय में शास्त्रीय मत" शीर्षक से दूसरा लेख लिखा। दूसरा तरीका, लोगों के अन्तः-करण से अपील करने का तरीका था—अर्थात् यह कि लोगों से कहा जाए कि वे अपने विवेक से काम लें और सही-गलत, अच्छे-बुरे और पाप-पुण्य के भेद को समझें और जो ठीक समझें वही करें। तीसरा तरीका था, जाति अथवा सरकार के द्वारा दिए जाने वाले दंड के बल पर सुधार करना। इस सुधार के भी दो अंग थे : सामाजिक बहिष्कार के द्वारा-स्वयं जाति द्वारा सुधार करना और कानून बनाकर सरकार द्वारा सुधार करना। रानडे को यह तीसरा उपाय अधिक पसंद था, क्योंकि उनके विचार से दोनों स्थितियो मे यह बुद्धिमानो द्वारा अज्ञानियों और नासमझ लोगों पर दबाव डालना था और यह उनके हित में था। लेकिन जब बहुत जरूरी होता तभी वे इस तरीके को काम में लाते थे। वह कहते थे "जब तक अन्य सभी उपाय काम में न लाए जाएं तब तक दबाव डालकर सुधार करने

को हमारे सामाजिक रीति-रिवाजों में सुधार करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। इसको काटने के लिए रानडे के पास कई तर्क थे। पहली बात तो यह थी कि हमारे सामाजिक रीति-रिवाजों को सुधारने में विदेशी सरकार को स्वतः कोई रुचि न थी। दूसरे, समाज सुधार के लिए कानून बनवाने में पहल स्वय हमें ही करनी थी। हम विदेशी सरकार से हम केवल इतना चाहते हैं कि वह उन रीति-रिवाजों को कानून की शक्ति और स्वीकृति प्रदान कर दे, जिन्हें हम या हम में सबसे अधिक प्रबुद्ध ठीक समझते हैं। तीसरे, यदि हम किसी भी परिस्थिति में यह सहायता नहीं लेंगे, तो हम पारसियों, मुसलमानों और ईसाइयों से भी पीछे रह जाएंगे, जिन्होंने मुक्त रूप से सरकार की सहायता लेकर अपनी सामाजिक व्यवस्था सुधार ली है। चौथी बात यह है, "यह सम्भव है यह विदेशी सरकार यहां अनिश्चित काल तक बनी रहे। ऐसी स्थिति में यदि हम इसी नीति पर चलते रहेंगे तो अनेक शताब्दियों तक इस अत्यंत लाभदायक सहायता से वंचित हो जाएंगे।" एक आपत्ति यह थी कि समाज सुधार के कानून द्वारा जो भी नए परिवर्तन किए जाएंगे वे विदेशी आदर्शों के अनुरूप होंगे। इसका रानडे ने यह उत्तर दिया कि परिवर्तन नवीनता लाने के लिए नही, बल्कि हमारे प्राचीन स्वर्णयुग को वापस लाने और उसे कायम रखने के लिए किया जा रहा है। प्रस्तावित कानून धर्मशास्त्रों के आधार पर तैयार किया गया है और बिलकुल उपयुक्त है। सामाजिक कुरीतिया भारत की अवनति के काल में शुरू हो गई थीं। हमें फिर से अपनी प्राचीन व्यवस्था को वापस लाने की कोशिश करनी चाहिए। सरकार को केवल इतना करना है कि वह हिन्दू समाज को भ्रष्टाचार के युग से

निकाल कर उस युग में पहुंचा दे जब वह अधिक स्वस्थ और शक्तिशाली था ।

रानडे के विचार समाजवादी थे । वह राष्ट्रीय जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं के आपसी संबंधों को भली-भांति समझते थे । जब तिलक के दल ने यह दलील दी कि राजनीतिक सुधारों के लिए कांफ्रेंसों और संस्थाओं की आवश्यकता है, लेकिन समाज सुधार के लिए उनकी कोई आवश्यकता नहीं है तो रानडे ने उत्तर दिया "किसी मनुष्य की सत्यनिष्ठा को अलग-अलग कार्य-क्षेत्रों में नहीं बांटा जा सकता ।" विकास या तो सर्वतोमुखी होगा या फिर बिलकुल नहीं होगा । यदि कोई राष्ट्र राजनीतिक रूप से पिछड़ा हुआ है, तो उसकी सामाजिक व्यवस्था कभी उन्नत नहीं हो सकती और यदि वह सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ है तो उसकी राजनीतिक व्यवस्था उन्नत नहीं हो सकती । और यदि उसके धार्मिक सिद्धान्त निम्न स्तर के हैं, तब भी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से वह उन्नत नही हो सकता । "यदि कोई मनुष्य अपने एक कर्तव्य का पालन करे तथा दूसरे कर्तव्यों की अवहेलना करे तो वह कर्तव्य-परायण नही कहलाया जा सकता ।"

यह उत्तर उन लोगों के लिए था, जो राजनीतिक रूप से तो प्रगतिशील थे, पर सामाजिक दृष्टि से रूढ़िवादी थे। परन्तु कुछ ऐसे लोग भी थे, जो इतने प्रगतिशील थे कि वे चाहते थे कि समाज का ढांचा एकदम बदल दिया जाए। रानडे ने उनसे जल्दबाजी न करने और शान्ति से काम करने को कहा और यह भी कहा कि मुद्दतों की पड़ी हुई आदतों और प्रवृत्तियों में जो शक्ति है, उसकी उपेक्षा नही की जा

सकती। "सच्चे सुधारक को लिखने के लिए कभी साफ स्लेट नही मिलती। उसका काम तो अक्सर अधूरे वाक्य को पूरा करना होता है। उसे यथार्थ में से और यथार्थ की ही सहायता से आदर्श प्रस्तुत करना होता है। प्राचीन समय से अब तक हम सब के जीवन की एक-सी धारा बहती चली जा रही है। प्राचीन काल में जो काम हुए और जिन सिद्धान्तों के आधार पर हुए, उन्हें हमें ठीक मान लेना चाहिए और अपनी भूमि को उपजाऊ और फलदार बनाने के लिए उस धारा को कहीं-कहीं, थोड़ा-थोड़ा मोड़ देना चाहिए। न तो हम उस धारा को बांध बना कर रोक सकते हैं और न उसे नई धारा में बदल सकते हैं। हम अपने अतीत से पूर्णतया अलग नहीं हो सकते, हमें उससे पूर्ण अलग होना भी नहीं चाहिए, क्योंकि हमारे अतीत में अत्यन्त मूल्यवान और प्रचुर विरासत भरी पड़ी है और हमें उसके लिए लज्जित होने का कोई कारण नही है।"

अपनी उत्कृष्ट समाज-विज्ञानी अन्तर्दृष्टि से रानडे ने अनुमान लगा लिया कि भारत में सामाजिक परिवर्तन आने वाला है और इसीलिए उन्होंने उसके लिए काम करने के लिए लोगों को प्रेरित किया। उन्होंने महसूस किया कि अंग्रेजों की भारत विजय से केवल शासक ही नहीं बदले, बल्कि वातावरण भी बदला है। अंग्रेजों से पहले की असुरक्षा का अन्त हो गया था और शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई थी। रेल गाड़ियों और पानी के जहाजों के कारण अलगाव समाप्त हो गया था। निरंकुश राजाओं की मनमानी समाप्त हो गई थी और कानून का राज्य स्थापित हो गया था, जबकि देश का वातावरण इतना बदल गया था तो क्या सामाजिक ढांचे को

भी उसी के अनुकूल नहीं बदल जाना चाहिए था। रानडे का कहना था कि समाज सुधार एक प्रक्रिया है जिसके अनुसार समाज अपने को नए वातावरण के अनुरूप ढाल रहा है। समाज के ढांचे में परिवर्तन वांछनीय तो है ही अनिवार्य भी है। इससे रानडे की विद्वतापूर्ण दूरदृष्टि का पता चलता है। इससे समाज सुधारकों को भी यह विश्वास हो जाता था कि समाज उनका साथ दे रहा है और उन्हें अपने काम में सफलता मिलने की आशा है।

पिछली कई शताब्दियों से निरन्तर समाज का ह्रास और पतन हो रहा था। अंग्रेजों के आने से वातावरण में जो परिवर्तन आया, उससे कुछ नई शक्ति और नई प्रेरणा मिली। वर्षों से जो बुराइयां समाज में घुस बैठी थी, वे इसी नव-जीवन, इसी प्रेरणा से हटाई जा सकती थी। इसलिए सुधार पहले विचारों का होना था, बाद में सामाजिक संस्थाओं का रानाडे ने प्रश्न किया "ऐसे कौन से विचार है, जिनके कारण लगभग तीन हजार वर्षो मे निरन्तर हमारी अवनति होती चली जा रही है ?" और फिर स्वयं ही उत्तर देते हुए कहा कि ऐसे चार विचार है, जिन्हें तुरन्त त्याग देना चाहिए और नए विचारों को अपना लेना चाहिए। पहला है, दूसरे दलों मे अलगाव की भावना और अपने आपको उनसे श्रेष्ठ समझना। यही जाति की भावना है, इसकी जगह समानता का भाव होना चाहिए। दूसरा है आँखें बन्द करके धार्मिक पुस्तको पर विश्वास करना। उसका स्थान विचार-स्वातंत्र्य को मिलना चाहिए। तीसरा है भाग्य या कर्म को सर्वोपरि समझ कर असहाय बन जाना। भाग्यवादिता का स्थान नैतिक शक्ति से आस्था को मिलना चाहिए। और चौथी है

यह धारणा कि मनुष्य का जीवन एक सपना है, माया है, जिसके कारण हमें इस संसार की बुराइयां-गरीबी, अत्याचार आदि सहनी पड़ती हैं। इस धारणा का स्थान इस विचार को मिलना चाहिए कि मानव जीवन महान और गौरवपूर्ण है तथा मनुष्य जाति का भविष्य उज्ज्वल है। अपने समाज की विकृति को दूर करने का केवल एक ही उपाय है कि हम ऊपर चर्चित अच्छे विचारों के अनुसार अपने आपको ढालें। सामाजिक संस्थाओं में केवल ये ही सुधार करने की आवश्यकता है कि वे "पुराने विचारों के प्रभाव को रोकें और नए विचारों और नई प्रवृत्तियों की वृद्धि को प्रोत्साहन दें।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाहरी ढांचे का या सामाजिक संस्थाओं का सुधार उतना अपेक्षित न था जितना आन्तरिक विचारों का। हमें अपने आपको, अपने दिल, दिमाग और आत्मा को सुधारना था। हमें अपने पूर्वाग्रहों को दूर करना था, अपने अन्धविश्वासों को छोड़ना था और अपने साहस को बढ़ाना था। समाज सुधार वस्तुतः नैतिक सुधार था। "कोई खास सुधार किसी खास बुराई को दूर करना ही समाज-सुधार आन्दोलन का एकमात्र लक्ष्य नहीं है और न होना चाहिए। इसका लक्ष्य मनुष्य की बुद्धि को स्वतन्त्र करके और उसके सिद्धांतों के स्तर को ऊंचा उठाकर उसे नया रूप देना, उसे पवित्र करना और 'पूर्ण मनुष्य' बनाना है।"

किसी भी समाज में सुधारकों की संख्या थोड़ी ही होती है। उन्हें अधिकांश लोगों की ओर से उपेक्षा, उपहास, सक्रिय विरोध और अत्याचार ही मिलते हैं। समाज सुधारक का काम जितना श्रेष्ठ है, उतना ही दुखदायी भी है। "सुधारकों की संख्या तो हम नहीं बढ़ा सकते, लेकिन हम विश्वास के साथ

कह सकते है उनके अन्दर दृढ़ विश्वास पूर्ण निष्ठा और आत्म-त्याग की भावना अवश्य रहती है। वे कार्यकर्ता संख्या में कम भले ही हों, लेकिन अन्त में वे विरोधियों पर विजय प्राप्त करने में अवश्य सफल होंगे। हमें सबसे पहले यह सीखना है कि सहन करना और क्षमा करना क्या होता है—उपहास, अपमान और कभी व्यक्तिगत आघातों को सहन करना तथा गाली का जवाब गाली से न देकर क्षमा करना। सन्त नजोरथ ने कहा है कि हम क्रास को इसलिए स्वीकार नहीं करते कि उत्पीडन आनन्ददायक होता है बल्कि इसलिए कि जिन सिद्धान्तों के लिए दुख और तकलीफें सही गई है, उनकी तुलना मे वे दुख और तकलीफे कुछ भी नहीं है।"

अध्याय 19

इतिहास पर अन्तर्दृष्टि

इतिहास में रानडे को बहुत रुचि थी और इससे भी अधिक रुचि अध्ययन की ऐतिहासिक प्रणाली में थी। वह कहते थे कि ऐतिहासिक प्रणाली वह प्रणाली है "जो अतीत के वर्णन के साथ भविष्य का पूर्वानुमान भी प्रस्तुत करती है।" किसी भी प्रकार की समस्या पर विचार करते समय वह ऐतिहासिक प्रणाली का ही, आर्थिक हो चाहे सामाजिक, सहारा लेते थे, चाहे वह समस्या प्रशासन सम्बन्धी हो। पहले वह देखते थे कि ऐसी समस्याओं को सुलझाने के लिए अन्य देशों में क्या कदम उठाए गए, तब निश्चय करते थे कि क्या किया जाए और क्या न किया जाए। इस प्रकार उनकी रचनाओं में बौद्धिक सौन्दर्य आ गया और उनका व्यावहारिक महत्त्व भी बढ़ गया।

रानडे स्पष्ट रूप से अर्थशास्त्र की ऐतिहासिक विचारधारा का समर्थन करते थे और उसकी तुलना शास्त्रीय विचारधारा से करके यह सिद्ध करते थे कि उनके व्यावहारिक प्रस्ताव आर्थिक विज्ञान के नवीनतम विकास के अनुरूप हैं। उनके इस प्रणाली का प्रयोग करने के कई उदाहरण हैं। 'भारत में ग्रामीण ऋण के पुनर्गठन' के विषय में लिखते हुए उन्होंने हंगरी, आस्ट्रिया, फ्रांस, इटली, बेल्जियम और स्विटजरलैण्ड की ग्रामीण ऋणव्यवस्था के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत की और फिर लिखा कि यूरोप के राजनीतिज्ञों ने किस प्रकार और कौन-से उपायों का प्रयोग करके सफलता प्राप्त की।

भारत सरकार भी उन्ही उपायों को काम में ला सकती है। उनके भारतीय अर्थशस्त्र पर लिखे गए 12 निबन्ध, 'विविध-रचनाओं' पर पांच, सामाजिक विषय पर एक लेख, जो 'सार्वजनिक सभा जरनल' में छपे, सभी ऐतिहासिक विचार धारा के हैं।

ऐतिहासिक प्रणाली का मतलब है इतिहास का पूर्ण ज्ञान। रानडे प्राचीन और वर्तमान, भारतीय और ब्रिटिश, एशियन और यूरोपियन इतिहास के महान विद्वान थे। विभिन्न विषयों पर लिखे गए उनके निबन्धों और भाषणों से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि शुद्ध इतिहास पर उनकी रचनाएं कम है लेकिन बहुत अच्छी है. 250 पृष्ठों का एक प्रबन्ध उन्होंने लिखा था, जिसका शीर्षक था 'राइज आफ दी मराठा पावर' (मराठा राज्य का उत्थान)। शुद्ध इतिहास की झलक इसी मे मिलती है। सन् 1890 से कुछ वर्षों तक वह मराठों के इतिहास पर मौलिक सामग्री इकट्ठी करने में लगे रहे। उनके प्रयत्नों से ही कुछ मराठा क्रानिकल या बाखर प्राप्त हुए, जिनसे विद्वान लोगो को इतिहास लिखने मे सहायता मिली। सन् 1890 में उन्होंने और तैलंग ने मिल कर उन ऐतिहासिक इतिवृत्तों को देखने की आज्ञा सरकार से प्राप्त कर ली। बाद में कुछ चुनी हुई सामग्री सरकार से उधार लेने में भी वह सफल हो गए। उसी के आधार पर उन्होंने, "मराठा शासन में मुद्रा और टकसालें" तथा "पेशवाओं की दैनन्दिनी की भूमिका" पर शोधपत्र लिखे और सन् 1899 और 1900 में "रायल एशियाटिक सोसाइटी' के सामने उन्हें पढा। दूसरे शोधपत्र में साहू और पेशवाओं के शासनकाल के संविधान, जाति का प्रभुत्व, सेना, जलसेना, किले, सार्वजनिक ऋण, राजस्व प्रणाली, अन्य कर, वेतन

कीमतों, सार्वजनिक कार्य और न्याय प्रकाशन के बारे में नई जानकारी दी गई थी।

'मिसलेनियस राइटिंग्स' में प्रकाशित इन्ट्रोडक्शन टू मिस्टर वैद्याज बुक" (श्री वैद्य की पुस्तक की भूमिका) इतिहास की व्याख्या करने की रानडे की असाधारण योग्यता का अच्छा उदाहरण है। इसमें उन्होंने संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर आरंभिक वैदिक काल से अपने समय तक हिन्दू आर्य समाज मे स्त्रियों के अधिकारो और दर्जे के उत्थान और पतन का सर्वेक्षण किया। उन्होंने सबसे पहले सूत्रो और स्मृतियों जैसे धर्मग्रन्थों का समन्वय किया उन्हे कालक्रमानुसार लगाया। इसके बाद उन्होंने राजनीतिक इतिहास को उनके साथ रखा और तब निष्कर्ष निकाले। जिस तरीके से उन्होंने यह सब काम किया उसे देख कर आश्चर्य होता है। अत्यन्त प्राचीन काल में जब आर्य लोग चढ़ाई करने और विजय प्राप्त करने मे लगे हुए थे, उस समय स्त्रियो का दर्जा नीचा था। पुरुष परिवार के मुखिया होते थे और स्त्रियां परिवार के विकलांग या रोगी सदस्य की भांति होती थी, जिनके कोई अधिकार नही होते थे। जब वे लोग बस गए और शान्ति का समय आया तब वे सज्जनता और रचनात्मक योग्यता के गुणों का मूल्य समझने लगे और परिणामस्वरूप स्त्रियों को ऊँचा दर्जा दिया जाने लगा, उनका दर्जा पुरुषों के बराबर हो गया। लेकिन कुछ शताब्दियों बाद आर्य आपस मे ही लड़ने लगे। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच नृशंस युद्धों के कारण देश का विध्वंस हो गया। इन युद्धो और कठिनाइयों के कारण लड़ने और शिकार करने की आदत पड़ गई। अब उन्होंने एक नया दर्शन बनाया जिसके अनुसार वे जीवन को एक विपत्ति समझने लगे और कमजोर

और अशक्त होने के कारण स्त्री को बोझ समझने लगे। समाज में स्त्री को नीचा स्थान दिया जाने लगा। कालान्तर में दो ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं, जिनके कारण अशान्ति बढ़ गई। पहली घटना तो यह थी कि यह देख कर कि आपसी, फूट के कारण आर्य कमजोर हो गए हैं, अनार्य असभ्य जन-जातियों के लोग जिन्हें पहले जंगलों और पहाड़ों में खदेड़ दिया गया था, अपने अड्डों से निकल पड़े और उन पर धावा बोल दिया। दूसरी घटना यह थी कि सीथियनों और मंगोलों की एक नई बर्बर जाति ने उत्तर पश्चिम से भारत पर आक्रमण कर दिया। असभ्य जातियो द्वारा आन्तरिक उथल-पुथल और बर्बर जातियों का बाहर से आक्रमण का दौर भारत में कई शताब्दियों तक चलता रहा, और उनके कारण यहां का सामाजिक ढांचा काफी बदल गया। परिणामस्वरूप स्त्रियों की स्थिति और भी नीची हो गई। बर्बर जातियों के रिवाजों और व्यवहारों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि समाज में उनका स्थान बिलकुल नगण्य हो गया। धीरे-धीरे आर्यों की हालत में सुधार हुआ। आकस्मिक आक्रमणों और पराजय से राहत मिली। आर्यों के धर्म सामाजिक नीति और विवाह संस्थाओं में सुधार हुआ। इस पुनरुद्धार और पुनरुज्जीवन को मुसलमानी आक्रमणों के कारण फिर धक्का लगा। कई शताब्दियों तक ये आक्रमण होते रहे और पहले अन्धकार युग के सभी सकट फिर वापस आ गए। आन्तरिक वैमनस्य, अनार्य जातियों का उत्थान बर्ब सीथियनों और बाद के विजेताओं का प्रभुत्व ये सब ऐसे ऐतिहासिक कारण थे, जिनसे स्त्री-जाति हीनता की दशा को प्राप्त हुई।

'राइज आफ दी मराठा पावर' (मराठा शक्ति का उत्थान) नामक पुस्तक रानडे ने पुरानी लम्बी कथा को फिर से दोहराने

के लिए नहीं, वल्कि उस समय की लिखी इतिहास की पुस्तकों विशेष रूपसे ग्राण्ट डफ की पुस्तक द्वारा जो गलत फहमी पैदा हो गई थी, उसे दूर करने के लिए लिखी थी। इसमें कुछ प्रमुख तथ्यों का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है जिससे इतिहास की व्याख्या ही वदल गई है। तत्कालीन इतिहास की अधिकांश पुस्तकें यूरोपीय लेखकों द्वारा लिखी गई थीं। उनमें इतिहास को तोड़ा-मरोड़ा गया था और गलत व्याख्या की गई थी। रानडे ने तैलंग के साथ मिलकर उन गलतियों को सुधारने की योजना वनाई थी। मराठे के विरुद्ध प्रचलित पूर्वाग्रह ये थे:—ब्रिटिश शासकों से पहले हिन्दू नही, वल्कि मुसलमान राजा राज्य करते थे, मराठों का कोई महत्त्व नही था मराठे केवल एक सेनापति के अधीन युद्ध करते रहते थे और वे राजनीतिक और सैनिक, साहसी लड़ाकू जाति के थे और उनका लूटमार करने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था। लूटमार करके ही वे अपना जीवनयापन करते और फलते-फूलते थे। उन्हें सफलता केवल इसलिए मिली कि इनकी जाति सवसे अधिक चालाक और साहसी थी। औरंगजेव की मृत्यु के वाद मुगल-साम्राज्य का अन्त करने में इन लोगों ने भी अन्य लोगों के साथ मिलकर अपनी चालाकी और साहस का परिचय दिया। रानडे ने इन विचारों का खंडन किया। पहले तो उन्होंने *यह कहा कि जिन शक्तियों पर अंग्रेजों ने विजय प्राप्त की थी,* वे मुसलमान सूबेदार नहीं, वल्कि हिन्दू शासक थे। इन देशी शक्तियों में सबसे पहला स्थान मराठा राज्य संघ के सदस्यों को मिलना चाहिए। इसी मराठा शक्ति ने 50 वर्षों तक दिल्ली के सम्राटों को वनाया और विगाड़ा। हैदराबाद और मैसूर दोनों मध्यवर्ती मुसलमानी राज्य पूर्ण रूप से उनके प्रभाव में थे।"

दूसरे उन्होंने कहा कि मराठा राज्य केवल एक व्यक्ति का नहीं था बल्कि पूरी जाति द्वारा बनाया और स्थापित किया गया था। बंगाल, कर्नाटक, अवध और हैदराबाद के सूबेदारों के शासन के विपरीत मराठा शक्ति का उत्थान राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत के कारण हुआ। " यह उस सम्पूर्ण जनता का महापरिवर्तन था जो भाषा, जाति, धर्म और साहित्य के समान बन्धन से बंधी थी और अब एक समान, स्वतन्त्र राजनीतिक सत्ता के अस्तित्व के द्वारा पूर्ण एकता की कोशिश कर रही थी। मराठा राज्य स्थापित करने के लिए ग्वालों और गड़रियों, ब्राह्मणों और क्षत्रियों—सभी वर्गों ने यहां तक कि मुसलमानों ने भी आपस में मिलकर प्रयत्न किया। तीसरी बात उन्होंने यह कही कि यूरोपीय लेखकों का यह कहना गलत है कि मराठा लोगों का लक्ष्य केवल लूटमार और बटमारी करना था। प्रसिद्ध यूरोपीय इतिहासकार ग्रान्ट डफ ने भी यही भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है। इसके विपरीत मराठा लोगों का लक्ष्य था उत्तमकोटि के धर्म में रुचि जाग्रत करना। सोलहवीं शताब्दी में जिस प्रकार यूरोप में प्रोटेस्टैंट धर्म का सुधार हुआ था, उसी प्रकार वे लोग भारत में हिन्दू धर्म का सुधार करना चाहते थे। वे जन्म के आधार पर जातियों के गठन और संस्कारों का विरोध करते थे तथा हृदय की पवित्रता और ईश्वर —प्रेम एवं मानव मात्र के प्रति प्रेम पर जोर देते थे। यह धार्मिक पुनरुत्थान भी जनता ने किया, पूरे जन समूह ने किया, किसी वर्ग विशेष ने नहीं किया। उसके नेता सन्त और पैगम्बर, कवि और दर्शनकार समाज के निचले स्तर से प्रकट हुए। वे अधिकतर दर्जियों, बढइयों, कुम्हारों, मालियों, दुकानदारों नाइयों और महारों में से ही उभर कर आगे आए, ब्राह्मणों में से बहुत कम।

मराठा शक्ति के उदय का श्रेय प्रमुख रूप से शिवाजी को है। भौगोलिक जातीय, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारणों का विश्लेषण करने के बाद रानडे ने शिवाजी के चरित्र की व्याख्या भी कुछ पृष्ठों में की। यूरोपीय लेखक शिवाजी को केवल लुटेरा और साहसी योद्धा ही समझते थे। उनके व्यक्तित्व के इस चित्रण को गलत सिद्ध करने के लिए रानडे का यह प्रयास आवश्यक था। रानडे ने लिखा, "जिन लोगों को उन महान नेताओं में, जिन्होंने मराठा राज्यसंघ बनाने में सहायता दी; और मैसूर के हैदर और टीपू, हैदराबाद के निजामुल्मुल्क, अवध के शुजाउद्दौला तथा बंगाल के अलीवर्दी खां के चरित्रों में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, वे कभी भी इतिहास का अध्ययन सही दृष्टिकोण से नहीं कर सकते। रानडे ने योद्धा और असैनिक शासन दोनों रूपों में शिवाजी की महानता का वर्णन किया। शिवाजी का व्यक्तित्व आकर्षक था और उनके अन्दर, लोगों में चाहे वे किसी भी वर्ग, जाति या धर्म के क्यों न हों, आदर्शवाद का अंकुर पैदा करने की शक्ति थी। उनके आश्चर्यजनक नियन्त्रण प्रभावी चातुर्य और अद्भुत साहस के कारण उनकी सैनिक प्रतिभा और भी निखर गई थी और प्रशंसनीय थी। उस काल में जबकि शासन और गवर्नर स्वेच्छाचारी और क्रूर हुआ करते थे, शिवाजी पूर्णरूप से आत्मानुशासित थे। वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहते थे और उससे किसी भी कारण से कभी विचलित नहीं होते थे। उनकी साधन-सम्पन्नता असीम थी, जिसके कारण उन्हें युद्ध और शान्ति दोनों में सफलता मिलती थी। राजनीतिज्ञ के रूप में वह दूर-दर्शी थे और प्रशासक के रूप में बुद्धिमान्। शासक के रूप में वह न्यायशील थे, दयालु भी थे। वह सच्चे देशभक्त थे, लेकिन

धार्मिक जोश भी उनके अन्दर इतना अधिक था, कि पूर्ण रूप से आत्म त्याग और तपस्या के लिए तत्पर रहते थे। ऐतिहासिक शोधपत्र में रानडे ने शिवाजी के चरित्र का यही चित्र प्रस्तुत किया। यूरोपीय इतिहासकारों ने जो विकृत चित्र प्रस्तुत किया था, उससे यह विलकुल उल्टा था।

मराठों के इतिहास के विषय में रानडे ने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे, उनमें वाद की शोध से कुछ संशोधन की आवश्यकता हुई। लेकिन यूरोपीय इतिहासकारों के विचारों का उन्होंने जो खण्डन किया वह विलकुल ठीक और निर्विवाद था। मराठा राज्य संघ के महान नेताओं के कार्यों का विवरण उन्होंने जिस ढंग से दिया वह विषय के अनुरूप था। बुद्धि और सत्य दृष्टि के द्वारा तत्कालीन ऐतिहासिक साहित्य के धुंधलके में से झांककर उन्होंने देख लिया कि मराठों का महान इतिहास एक प्रवल जाति के उत्कृष्ट, देशभक्तिपूर्ण प्रयत्न का इतिहास है। उनकी इस ऐतिहासिक कृति को सभी विचारशील लेखकों ने अत्यधिक प्रशंसा की है।

अध्याय 20

धार्मिक उत्साह

रानडे धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। मान्य राजनीति मौलिक अर्थशास्त्री, समाज सुधार के दर्शनकार और व्यवस्थापक तथा असाधारण सूझ-बूझ के इतिहासकार के रूप में वे प्रसिद्ध हुए। उनकी यह प्रसिद्धि उनकी धार्मिक वृत्ति के कारण ही हुई। गोपाल कृष्ण गोखले ने जो उनके चरित्र के सभी पहलुओं से परिचित थे कहा था, "रानडे का स्वभाव सन्तों जैसा था, जो उनके सद्गुणों से प्रकट होता था। उनके सद्गुण पूर्णता को प्राप्त हो चुके थे, जिनसे यह विश्वास होता था कि उनका व्यक्तित्व दिव्य था।" गोखले ने एक जगह और यह भी कहा है कि "रानडे हर काम को लगन से करते थे और ईश्वर की इच्छा पर उन्हे पूर्ण विश्वास था और इन्हीं कारणों से वह शान्त और प्रसन्नचित्त रहते थे।"

भारतीय अर्थशास्त्र के पंडित जी. वी. जोशी ने जो गोखले की भांति ही रानडे से निकट से परिचित थे कहा, "रानडे अपने सभी काम केवल देशभक्ति की भावना से ही नहीं, बल्कि भक्तिवना और धार्मिक उत्साह से करते थे। वह अत्यधिक धार्मिक वृत्ति के थे। उनके साथ अपने साहचर्य के दौरान जिस बात ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वह थी उनकी सीधी-सादी उत्कृष्ट धर्मपरायणता। लगता था, जैसे वह महसूस करते थे कि परमपिता परमेश्वर हर समय उनके साथ ही रहता है और

वह स्वयं एक साधारण सेवक की भांति, उसके द्वारा निश्चित किए कार्यों को अपनी सामर्थ्य भर पूर्ण विश्वासपूर्वक करते रहते हैं।"

गोखले ने लिखा है कि एक वार सन् 1897 में रानडे के साथ यात्रा करने का उन्हें मौका मिला। सुवह चार वजे गाने की आवाज से गोखले की आंखें खुलीं तो देखा कि रानडे बैठे हुए तुकाराम के अभंग गा रहे हैं और ताली वजा-कर ताल भी देते जाते हैं। अभंग का अर्थ था—"जो दुखियों और पीड़ितों का मित्र है वही सच्चा सन्त है। केवल वही भगवान के दर्शन हो सकते हैं। नम्रता से सन्तों के चरण छुओ, तुम्हें भगवान के दर्शन हो जाएंगे। उसे पाने का यही सवसे आसान उपाय है।" जिस तन्मयता से रानडे वह अभंग गा रहे थे, वह इतनी दिल को प्रभावित करने वाली थीं कि गोखले भी जो स्वयं अनीश्वरवादी थे, पूर्णतया रोमांचित हो गए। एक दिन शाम को रानडे ने लाइब्रेरी की खिड़की से तीर्थयात्रियों का एक जुलूस जाते देखा। तीर्थयात्री लय से नाच रहे थे और सन्त ज्ञान देव और तुकाराम की प्रशंसा में भजन गाते जा रहे थे। भक्तों के भावोत्कर्ष से रानडे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनकी आंखों में आंसू आ गए।

भगवद्भक्त के सभी गुण रानडे में विद्यमान थे। गोखले ने अपने एक भाषण में उन सव का वर्णन किया। उनका पहला गुण था पूर्ण निःस्वार्थ भाव। "मान्यता प्राप्त करने की उन्हें कभी इच्छा नहीं होती थी और न कभी वह यही सोचते थे कि उनके काम की प्रशंसा की जाए। किसी की आड़ में ही काम करने में उन्हें विशेष आनन्द आता था। मेरे ख्याल से रानडे को कभी किसी ने यह कहते नही सुना होगा कि

मैंने यह किया मैंने वह किया।" ऐसा लगता था, जैसे उत्तम पुरुष एकवचन में ही वह करना जानते थे।" "उनका दूसरा गुण था नम्रता, जिससे उन्होंने अपने आपको जीवन भर अनुशासित रखा। तीसरा गुण जैसा कि पहले कहा जा चुका है कठिनाइयों और विफलताओं के बावजूद शान्त और प्रसन्नचित्त रहना था। यह गुण ईश्वर में विश्वास करने वाले लोगों में ही पाया जा सकता है। चौथा गुण था क्षमादान। यदि कोई दुर्भावना से उनकी आलोचना करता था तो उनकी प्रतिक्रिया केवल इतनी होती थी कि वह ढूंढने की कोशिश करते थे कि क्या उसमें कोई ऐसी बात भी है, जिसे वह स्वीकार कर सकते हैं। एक बार सन् 1894 में जब मद्रास कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने के बाद रानडे वापिस बम्बई आ रहे थे तब शोलापुर स्टेशन पर एक आई. सी. एस. ब्रिटिश अधिकारी ने उनका अपमान किया। जिस समय रानडे अपने मित्रों से बातचीत करने के लिए सैकिण्ड क्लास के डिब्बे में गए हुए थे, उसी समय इस अंग्रेज ने उनका बिस्तरा हटा कर उनकी सीट हथिया ली। वापिस आकर रानडे ने यह देखा तो चुपचाप पास की बर्थ पर बैठ गए, जिस पर भण्डारकर का बिस्तरा रखा था। जब पुणे पहुंचे तो, उस अंग्रेज को, जो असिस्टेंट जज था, पता चला कि जिस सज्जन का उसने अपमान किया था, वह हाईकोर्ट का जज था, तब उसने माफी मांगनी चाही, लेकिन रानडे वहां से चले गए। दूसरे दिन गोखले ने उनसे पूछा कि क्या आप उसके विरुद्ध कुछ कार्रवाही करेंगे? रानडे ने उत्तर दिया कि मैं इन बातों में विश्वास नहीं करता। इसमें बयान पर बयान और बहस पर बहस होगी, जिससे कोई लाभ नहीं होगा। और मुझे ऐसी बातों में कोई रुचि भी नहीं है।

हिन्दू समाचारपत्र उन्हें बाइबिल का उपयोग करने के लिए दोष देते थे, और ईसाई समाचार पत्र हिन्दू धार्मिक साहित्य का उपयोग करने के लिए। उनके अपने प्रार्थना समाज के सदस्य जो मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते थे, मंदिरों में धार्मिक प्रवचन देने के लिए रानडे को दोष देते थे। प्रवचनों में वह जो कुछ कहते थे वह सब समाज की शिक्षाओं के अनुरूप ही होता था, परंतु आपत्ति इस बात पर की जाती थी कि वे मूर्तिपूजा के स्थान पर प्रवचन क्यों देते हैं। गोखले ने इसके स्पष्टीकरण में बताया "रानडे यह सोचते थे कि महत्व प्रवचनों का है, उस स्थान का नहीं जहां वे दिए जाते हैं.। वह चाहते थे कि उनके विचार देश के हर कोने में और हर व्यक्ति तक पहुंचे। इसलिए जहां भी लोग उनकी बात सुनने के लिए जमा होते थे वहां पहुंचने में उन्हें कोई आपत्ति नही थी।"

गोखले ने कहा "उनके प्रवचनों जैसे गम्भीर और विचारपूर्ण उपदेश मैंने कभी नहीं सुने।" एन. जी. चन्दावरकर ने कहा है "वक्तृत्व कला सच्चाई और ईश्वर की दया प्राप्त करने के लिए भक्ति भावना आदि गुणों की दृष्टि से उनके उपदेश अद्वितीय हैं।" श्रीमती रमाबाई ने लिखा है, "जैसे ही अपनी प्रेमभरी मीठी वाणी में वह बोलना शुरू करते थे, दिल में तरंगे उठने लगती थीं, मन स्थिर हो जाता था, साँसारिक दुख और कष्ट एकदम विस्मृत हो जाते थे और हृदय में आशा और विश्वास का संचार होने लगता था। कभी-कभी तो स्वर्ग-सुख का अनुभव होने लगता था। यह प्रभाव केवल उपदेशों के दौरान ही नहीं, बाद तक रहता था और वापिस घर पहुंचने पर भी लोगों के मस्तिष्क में वे ही धार्मिक विचार घंटों गूंजते

रहते थे, जो उनकी मधुर और ज्ञानदायिनी वाणी से जाग्रत हो गए थे।"

रानडे के धार्मिक प्रवचनों का एक संग्रह श्रीमती रानडे ने प्रकाशित कराया था। उसमें उनके व्यक्तिगत धर्म की सूक्ष्म झांकी देखने को मिलती है। उनके प्रवचनों के विषयों में ये मुख्य थे:—"भक्ति का मार्ग", "मैं संपूर्ण विश्व को ब्रह्म का रूप मानता हूं," "आत्मज्ञान" 'भक्ति में स्वेच्छा' "इस संसार में जो भी, कुछ प्राप्त किया है उससे अरुचि और हृदय की शुद्धता भारतीय धर्म विज्ञान में भगवान के पास पहुंचने और मुक्ति प्राप्त करने के चार मार्ग (उपाय) बताए गए हैं—(1) योग (त्याग और तपस्या), (2) ज्ञान, (3) कर्म और (4) भक्ति। रानडे कहते थे कि ये सभी उपाय सही है, लेकिन जो पहले तीन हैं वे कुछ गिने-चुने असाधारण व्यक्तियों के लिए ही हैं। सर्वसाधारण के लिए भक्ति मार्ग ही सबसे सरल है। भक्ति मार्ग 'भागवत धर्म की भारतीय परम्परा में वेदव्यास, शुकदेव, ऋषभदेव, वैष्णव सन्तों और महाराष्ट्र के एकनाथ से लेकर तुकाराम तक सभी की शिक्षाएं शामिल हैं। इसी परम्परा का अनुसरण रानडे ने किया। उनकी भावनाओं, विचारों और कर्मों का आधार भगवान में विश्वास, भगवान की भक्ति तथा भगवान के प्रति आत्मसमर्पण ही था।

रानडे जैसे महान विद्वान के विषय में सभी लोग सोचेंगे कि वह ज्ञान का मार्ग अपनाएंगे। लेकिन उन्होंने ज्ञानमार्ग नहीं अपनाया, इसका भी कुछ कारण था। इतनी भारी विद्वता होने पर भी रानडे इतने विनम्र थे कि वह अपने आपको अज्ञानी ही समझते थे। वे समझते थे कि ज्ञान इतना विशाल है कि भगवान को मानने की लिए उस पर विजय प्राप्त करना

असम्भव है। इसकी उन्हें कोई आशा नहीं थी। वह कहते थे कि ज्ञान का मार्ग अपनाने के लिए, मनुष्य को सभी युगों में और सभी देशों में जितने भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है उन सभी का अध्ययन और मनन करना चाहिए। सम्पूर्ण जीवन लगाने पर भी वह काम पूरा नहीं हो सकता। बड़े-बड़े विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि "हम केवल यही जानते हैं कि हम कुछ नहीं जानते।"

लोग यह भी आशा करेंगे कि समाज सुधारक रानडे का जो अन्धविश्वासों के विरोधी थे, उस ईश्वर भक्ति से कोई संबंध नहीं हो सकता जो केवल साधारण लोगों से ही आमतौर से सम्बन्धित होती है। लेकिन रानडे के धार्मिक विचारों मे भक्ति का स्थान था। वह कहते थे कि ईश्वर और विश्व का सम्बन्ध धर्म की वह समस्या है जो देश, काल अनादि और अनन्त की असीमता से सम्बन्धित है। अपने सीमित ज्ञान से हम इन समस्याओं को नहीं समझ सकते। लेकिन इनके विषय में जानकारी अवश्य प्राप्त कर सकते हैं। हमारे लिए यही काफी है। इस प्रकार प्राप्त किए गए सर्वमान्य सत्यों के आधार पर जीवित रहने और कार्य करने के लिए हमारी आत्मा हमे बाध्य करती है। उसके लिए पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। रानडे भगवान को शक्ति, बुद्धि और श्रेष्ठता और प्रेम मे सबमे उत्कृष्ट समझते थे। ऐसे ईश्वर से साक्षात्कार करके रानडे भक्ति में डूब जाते और आत्मसमर्पण कर देते थे। इस प्रकार रानडे ने भक्ति का मार्ग ग्रहण किया।

परंतु इसका यह मतलब नही कि उन्होंने विवेक और तर्क के मार्ग को छोड़ दिया था। उन्होंने हिन्दू और ईसाई धर्मों का अध्ययन किया। प्रार्थना समाज की प्रार्थना सभाओं में उप-

देश के अतिरिक्त रानडे ने धार्मिक विषयों पर कई भाषण दिए और कई लेख भी लिखे। सभी में उनकी विद्वता, संश्लेषण और विश्लेषणात्मक व मौलिकता के दर्शन होते हैं। उनके विचार अब भी वैसे ही थे, जैसे उनके आरम्भिक लेख, "दी थीइस्ट्स कन्फेशन आफ फेथ" मे व्यक्त किए गए थे, और जिसका संक्षिप्त विवरण हम पिछले एक अध्याय में दे चुके हैं। लेकिन बाद में, ऐसा मालूम होता है, कि उन्होंने हिन्दू धर्म के साहित्य का अच्छी तरह अध्ययन और मनन किया। उनके धार्मिक लेखों और भाषणों में ये शामिल हैं:—"आर.बी. दादोबा पांडुरंग रेंड दी स्वेडेन बोर्ग स्कूल" (1878), "बटलर्स मेथड आफ ईथिक्स–'प्रोफेसर सेल्वीज नोट्स' (1882) 'फिलोसफी आफ इंडियन थीउमा' (विल्सन कालेज में) ईसाई धर्म पर डाक्टर पेंटीकोस्ट की भाषण शृंखला के पश्चात उपसंहार (1891) और 'हिन्दू प्रोटेस्टेंटिज्म' (1895)। रानडे को यह देखकर बहुत खुशी हुई कि दादोबा पांडुरंग, जिसने पचास वर्षों तक ईसाई धर्म का अध्ययन किया था और जो भारत का महान विचारक था, जीवन और मृत्यु के प्रश्न पर ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सका। दादोबा ने ईसाइयों को आधुनिक ईश्वरवाद को मानने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि आत्मा की अमरता और और मुक्ति के विषय में प्राचीन हिन्दू और स्वेडेन बोर्ग के विचार एक से हैं और ये ही सही है। रानडे को यह देखकर दुख हुआ कि डेकन कालेज के विद्यार्थियों को प्रोफेसर सेल्वी द्वारा प्रचारित नास्तिकता के सिद्धान्त सिखाए जाते हैं। डाक्टर पेन्टीकोस्ट ने हिन्दू श्रोताओं के सामने ईसाई धर्म की प्रशंसा में शृंखलाबद्ध पन्द्रह व्याख्यान दिए। अन्तिम दिन रानडे अपने मित्रों के अनुरोध पर पूनावासियों के प्रतिनिधि

के रूप में व्याख्यानदाता को धन्यवाद देने के लिए उठे। अपने भाषण में रानडे ने संसार के सभी धर्मों की उत्कृष्ट व्याख्या की और अन्त में हिन्दू धर्म को सबसे उत्तम घोषित किया।

अपने 'हिन्दू प्रोटेस्टेंटिज्म' में रानडे ने यह धारणा व्यक्त की कि उत्तर मध्यकालीन सन्तों द्वारा प्रतिपादित 'भागवत धर्म' को प्रोटेस्टेंट हिन्दूवाद की संज्ञा दी जा सकती है। उन्होंने पश्चिमी यूरोप में प्रोटेस्टेंटवाद के विकास और हिन्दू धर्म की भागवत परम्परा को समरूप बतलाया। प्रोटेस्टेंटवाद के इस संचालन में देश के सभी भागों के सन्तों ने भाग लिया। उन्होंने महाराष्ट्र के सन्त महीपति द्वारा लिखी सौ जीवनियों का अध्ययन किया। सन्त ने अपनी कृति में स्त्रियों, मुसलमानों और ब्राह्मणों और अब्राह्मणों, कसाइयों, जुलाहों, सुनारों, नाइयों, महारों, राजाओं, किसानों, साहूकारों और सिपाहियों सबको सम्मिलित किया और वे सब अधिकतर महाराष्ट्र के ही थे। उनमें ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, नानक और कबीर सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। रानडे ने कहा कि इन सन्तों ने अपनी कृतियों और उपदेशों के द्वारा उस समय की अस्वस्थ प्रवृत्तियों का उसी प्रकार विरोध किया जिस प्रकार यूरोप में प्रोटेस्टेंटवाद ने किया था। पहले तो इन लोगों ने पुरानी संस्कृत भाषा की प्रधानता का विरोध किया और देशी भाषाओं में कविताएं लिख-लिख कर उन्हें समृद्ध बनाया। पंडितों के आदेश पर जिस प्रकार एकनाथ और तुकाराम की कृतियां पानी में डुबो दी गई थीं, उस पूरी कथा का वर्णन रानडे ने किया। दूसरे उन्होंने धार्मिक भावना जाग्रत करने के लिए धार्मिक अनुष्ठानों और उत्सवों को अत्यधिक महत्व देने की प्रवृत्ति का विरोध किया। उन्होंने रूढ़िवादिता और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध संघर्ष किया। तीसरे, उन्होंने

जात-पांत के भेदभाव और नियमों की कठोरता का विरोध किया। चौथे, उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध भले ही न किया हो, लेकिन बहुदेववाद का विरोध अवश्य किया। ये सभी सन्त केवल एक ही ईश्वर को मानते थे, भले ही भिन्न भिन्न नामों से उसकी पूजा करते हों। उन्होंने कहा कि भिन्न भिन्न कालों में सभी समुदायों में ऐसे विरोध की आवश्यकता पड़ती रही है। प्रतिष्ठित धर्म की सदा और सर्वत्र यह प्रवृत्ति रही है कि वह इतना कठोर और सत्तावादी, इतना तान्त्रिक और आडम्बरपूर्ण बन जाता है कि दिव्यज्योति को पवित्र और प्रज्ज्वलित नहीं रख सकता। 'इसलिए रानडे ने कहा कि प्रोटेस्टेन्ट धर्म, जैसा कि समझा जाता है, केवल लूथर और केलविन तथा नोक्स और लेटीमर के आन्दोलन तक ही सीमित नहीं है। ब्रह्म-समाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज आदि समाजी आन्दोलनों को भी रानडे ने विस्तृत अर्थ में प्रोटेस्टेंट आन्दोलन का ही नाम दिया है।

रानडे के जीवन के उत्तरकाल में धार्मिक विषय में उनके जो विचार और धारणाएं थीं, उनका यह संक्षिप्त वर्णन है। जितनी ख्याति उन्होंने अन्य क्षेत्रों में प्राप्त की, शायद धार्मिक विचारक के रूप में वह उन्हें न मिलती। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म के विषय में उन्होंने जो कुछ लिखा वह अत्यन्त विचारोत्तेजक था।

अध्याय 21

अन्तिम दिन

सन् 1893 में रानडे का तबादला हाई कोर्ट के जज के रूप में पूणे से बम्बई हो गया। इससे उनके समाज सुधार के कामों पर कुछ असर पड़ा। यहां आकर राजनीतिक क्षेत्र के उनके क्रिया-कलाप सीमित हो गए। और अब वह अपना अधिकांश समय ऐतिहासिक शोध में व्यतीत करने लगे। बम्बई में राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, धार्मिक, ऐतिहासिक संगठन और समाज सुधार के क्षेत्रों में उन्होंने जो-जो काम किए उनका ब्यौरा पिछले कुछ अध्यायों में किया जा चुका है। बम्बई यूनिवर्सिटी में वह फैलो, सिन्डिक और डीन के पद पर रहे। वहां रह कर यूनिवर्सिटी के लिए उन्होंने जो काम किया, यहां उसका भी थोड़ा-सा वर्णन कर देना उचित है।

सन् 1894 में यूनिवर्सिटी के पाठ्यक्रम में देशी भाषाओं को फिर से प्रारंभ करने का प्रश्न रानडे ने उठाया। जिस समय रानडे विद्यार्थी थे उस समय देशी भाषाएं पाठ्यक्रम में सम्मिलित थी, लेकिन बाद में सन् 1867 में उन्हें उसमें से निकाल दिया गया था। सन् 1881 में जी.वी. जोशी ने 1888 में तैलंग ने और सन् 1890 में डब्लू. ए. मोदक ने उन्हें पाठ्यक्रम में शामिल कराने की कोशिश की, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। सन् 1884 में रानडे ने बहुत जोरदार प्रयत्न किया और फैकल्टी और सिन्डीकेट का समर्थन भी प्राप्त कर लिया। परन्तु उसके समर्थन में एक जोशीला भाषण देने के बाद भी सीनेट से वे अपना प्रस्ताव पास

न करा सके। उनके प्रस्ताव के विरोध में अनेक आपत्तियां उठाई गई–जैसे यह कि देशी भाषाए पढाने से जाति और धर्म के विवाद उठ खड़े होंगे, पढाई का बोझ लड़कों पर बढ़ जाएगा, पारसी लोग इस बात को पसन्द नही करेंगे, आदि आदि। रानडे ने सभी आपत्तियो का दो टूक उत्तर दिया, फिर भी उन्हें बहुमत प्राप्त नही हो सका। सन् 1898 में उन्होंने फिर से कोशिश की। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जनरल और 'टाइम्स आफ इंडिया' में उन्होंने पांच निबन्ध यह सिद्ध करने के लिए लिखे कि मराठी में बहुत-सी पुस्तकें ऐसी है, जो परीक्षाओं के लिये निर्धारित की जा सकती हैं। इस बार उन्हें सफलता मिल गई और एम.ए. के लिए मराठी को भी एक विषय के रूप में स्वीकार कर लिया गया। लेकिन इस विषय पर अन्तिम निर्णय होने से लगभग दो सप्ताह पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। दूसरा सुधार जिसे करने का उन्होंने प्रयत्न किया, शिक्षा के स्तर को नीचा किये बिना ही विद्यार्थियों के ऊपर परीक्षाओं का बोझ हल्का करना था। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि यूनिवर्सिटी की परीक्षा हर साल नही होनी चाहिए और जिन विद्यार्थियों को जिन विषयों में 45 प्रतिशत अंक मिलें हों, उनको उन विषयों की परीक्षा देने से मुक्त कर दिया जाना चाहिये। लेकिन उनका यह प्रस्ताव स्वीकार नही हुआ।

अपने दफ्तर का काम अत्यन्त योग्यता से करते हुए भी रानडे ने विविध क्षेत्रों में जो इतने कार्य किए उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। अपने कर्तव्यों की उन्होंने कभी उपेक्षा नही की। उन्हें अत्यन्त ईमानदार, सेवानिष्ट और योग्य जज माना जाता था। हाई कोर्ट के जज के पदभार को रानडे के बाद एन. बी. चन्दावरकर ने सम्हाला। उन्होंने कहा "एक बार एक अंग्रेज मित्र ने मुझसे पूछा कि जिन मुकदमों पर बहस रानडे रोजाना सुनते है, उनके

तथ्य वे कैसे याद रखते हैं ? मैंने उसे बताया कि निरन्तर अध्ययन और व्यवस्थित संक्षिप्तीकरण के द्वारा अपने प्रतिभा सम्पन्न मस्तिष्क को इतना ट्रेन्ड कर लिया था कि वे तथ्यों को ग्रहण करके उन्हें अपने मस्तिष्क में उचित अनुपात और क्रम में रख लेते थे। इसमें कोई संदेह नही कि वह प्रतिभाशाली थे। लेकिन अपनी बुद्धि और स्मरणशक्ति को बढ़ाने में उनका स्वयं बहुत भारी योगदान था। उनकी प्रशंसा में "दी इण्डियन लॉ रिपोर्टर" ने लिखा "हिन्दू लॉ के सम्बन्ध में रानडे का योगदान गुण में ठोस और परिभाषा में विशाल रहा है। उन्हें ग्रामीण जीवन का अत्यन्त गहन ज्ञान था। हिन्दू लॉ को लागू करने वाले न्यायाधीश को केवल इसी बात का ध्यान नहीं रखना पड़ता कि अमुक नियम प्राचीन धर्मग्रंथों से लिया गया है या लिया जा सकता है, बल्कि उसे यह भी देखना पड़ता है कि जनता ने उसे कानून के रूप में स्वीकार किया था या नही। न्यायाधीश रानडे के अतिरिक्त इस विषय पर, अधिकार से, किसी को भी बोलने की सामर्थ्य नही थी। जज के रूप में रानडे बड़े परिश्रम से काम करते थे। वह कर्तव्यनिष्ठ थे और सभी प्रश्नों पर दृढ़ निश्चय के साथ विचार करते थे, छोटी-छोटी तकनीकी बातों से वे परेशान नही होते थे, वह सबकी बात ध्यान और धैर्यपूर्वक सुनते थे और जो कुछ भी उनका निर्णय होता उसे निष्पक्षता से सुना देते थे, डरते न थे। वह न तो किसी प्रश्न से कतराते थे न तर्क से बचने की कोशिश करते थे। लगता था, जैसे काम करने के लिए ही उन्होंने जन्म लिया हो। जो भी मुकदमा निर्णय के लिए उनके सामने आता उसकी सच्चाई और तह तक पहुंचने के लिए निर्भीकता से संघर्ष करते थे।"

सार्वजनिक कार्यों और सरकारी कर्तव्यों में व्यस्त रहते हुए भी वे अपने परिवार के लिए अपने मित्रों के लिए समय निकाल ही लेते थे। वे प्रेम के भूखे थे, शंकर पांडुरंग पंडित उनके सबसे अन्तरंग

मित्रों में से थे। वह कालेज में उनके साथ पढ़ते थे और स्त्री शिक्षा के अभियान में उनके सहकर्मी थे। वह अपना इलाज कराने के लिए बम्बई आए। रानडे ने उन्हें और उनके परिवार को अपने ही घर में रखा। उनका रोग बढ़ता ही गया और वह दिन पर दिन कमजोर होते गए। बड़ी ही कठिनाई से कुछ लिख पाते थे। रानडे ने सुबह और शाम दोनों समय उनके पास बैठने का नियम बना लिया था। श्रीमती रानडे लिखती हैं, "मेरे पति जब पंडित से बातें करते थे तो उन्हें खूब ढांढ़स बंधाते थे लेकिन जब अपने कमरे में आते तो पंडित के प्रति चिन्ता में डूब जाते। कभी-कभी वह 'राम, राम' कह कर आहें भरा करते थे और उदास रहते थे। मेरे पति धीरे से पंडित के कमरे में जाकर यह देखा करते थे कि वह सो रहे हैं या जाग रहे हैं और उनकी हालत कैसी है। उनकी चिन्ता में वह रात रात भर सोते नहीं थे।" पंडित अच्छे नही हो सके। कुछ ही महीनों में वह चल बसे।

बम्बई में रानडे की दिनचर्या के विषय में उनकी पत्नी ने लिखा है, "वह केवल चार या साढ़े चार घंटे ही सोते थे, यानी 11 बजे से साढ़े तीन बजे तक। बहुत तड़के उठ कर कुछ देर वह ईश्वर का ध्यान लगाते और बाद में तुकाराम के अभंग गाने लगते। गाते गाते वह एक दम तल्लीन हो जाते थे और कभी कभी चुटकी बजा कर तान भी देते थे। भावावेश के कारण कई बार उनकी वाणी रुद्ध हो जाती थी और उनकी आंखों से आंसू बहने लगते थे।" साढ़े पांच बजे तक वह अभंग गाते और संस्कृत के श्लोकों का पाठ करते। इसके बाद तैयार होकर अपना काम करने बैठते। शाम को छ: बजे जितने पत्र आते उन्हें पढ़ते और उनके उत्तर देते। गोखले का कहना है कि लगभग बीस पत्र वह प्रतिदिन लिखा करते थे। ये पत्र अधिकांश सार्वजनिक कार्यों से ही सम्बन्धित होते थे।" "छुट्टी के दिन,

सुवह और शाम दोनों समय अनेक लोग उनसे मिलने आते थे। वड़ी नम्रता से वह उन लोगों से वातचीत करते, सव प्रकार की जानकारी उनसे प्राप्त करते और सवको भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करने को कहकर विदा कर देते। किसी के सार्वजनिक कार्य की प्रशंसा करते और किसी को प्रोत्साहित करते।"

रानडे के अपने कोई वच्चे नहीं थे, इसलिए अपने एक भतीजे और एक भतीजी को अपने वच्चों की भांति ही पालते थे और उन्हें ही मां वाप की तरह अपना पूरा प्यार और स्नेह देते थे। इतना वडा परिवार, वम्वई और पूणे, दो स्थानों में विभक्त हो गया था। अव रमावाई ही घर की कर्ता-धर्ता थीं और वे गृहस्थी की सभी समस्याएं असाधारण योग्यता और चतुराई से सुलझाती रहती थीं। सन् 1896-97 में जव पहली वार प्लेग की महामारी फैली तो उस समय उनके गुणों की कड़ी परीक्षा हुई। इस वीमारी का पहले किसी ने नाम भी नहीं सुना था। केवल समाचार-पत्रों से ही लोगों ने यह जाना कि उसका क्या रूप होता है, उसके लिए क्या अहतियात रखन चाहिए और यदि किसी को यह वीमारी हो ही जाए तो क्या करना चाहिए। कचहरियां वन्द हो गई और क्योंकि रानडे का घर संदूषित हो गया था, इसलिए नौकरों को पड़ोस के एक बंगले में छोड़ कर घर के सव लोग लोनावाला चले गए। लोनावाला जाने से पहले एक नौकर को इस वीमारी का असर हो गया था। रमावाई ने अपने जाने से पहले उसे चुपचाप अस्पताल भिजवा दिया। इस विषय में रानडे को उन्होंने इसलिए नहीं वतलाया कि वे अत्यधिक चिन्तित हो जाते। लेकिन वाद में जव और भी नौकर वीमार पड़े तव उन्हें यह वात रानडे को वतलानी ही पड़ी। कुछ दिनों वाद कचहरियां खुल गईं और वे लोग वापस वम्वई आ गए। वम्वई में एक सुरक्षित बंगला लिया गया और वहीं आकर परिवार के सब लोग रहने लगे।

एक दिन जब रानडे कोर्ट में ही थे तब उन्हें खबर मिली कि उनके पांच नौकरो में से तीन अस्पताल में मर गए। यह समाचार सुनकर रानडे बहुत बेचैन हो गए। वह सोचने लगे कि यदि सुरक्षित घर का इन्तजाम पहले ही हो जाता, तो शायद इन पुराने वफादार नौकरों की जिन्दगी बचाई जा सकती थी—तब शायद ऐसी दुखद घटना न घटती। रात भर उन्हें बिल्कुल नीद नही आई। उन्ही दिनों उन्हें अपने अभिन्न मित्र कामरेड चिन्तामणि भट्ट की मृत्यु का समाचार मिला। इससे उनकी बेचैनी और भी बढ़ गई। उन्होंने जी.वी. जोशी को एक पत्र में लिखा—"पिछले बारह वर्षों से वह मेरे साथ काम कर रहा था, वह मेरा सहायक था—सहायक ही नही मेरा सीधा हाथ था।" अपनी पत्नी से उन्होंने कहा, "मुझे पूरा विश्वास था कि वह मेरे काम को अपने हाथ में ले लेगा और आगे बढ़ाएगा।" इन दोनों घटनाओं का रानडे के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। "पांच मिनट-दस मिनट तक यों ही चुपचाप बैठे सोचते रहते थे। उनकी भूख बन्द हो गई। जो भी फल और मेवा, उन्हें अब तक पसन्द थे, उन्होंने खाने छोड़ दिए। खाने की शकल ही उन्हें बुरी लगने लगी।" अब कुछ महीनों के लिए कोर्ट बन्द हो गए थे इसलिए रानडे घर के लोगों के साथ महाबलेश्वर चले गए। वहां उनके स्वास्थ्य में कुछ सुधार हुआ। लेकिन एक दिन जोर की लू लग जाने से उनका स्वास्थ्य फिर खराब हो गया।

अब एक नई बीमारी और शुरू हो गई। हर रोज रात को दस-साढ़े दस बजे उनके हाथ और पैर सुन्न हो जाते थे, अन्दर नसों में ऐंठन होती थी और छाती में अवरोध के कारण दम घुटने लगता था, फिर उन्हें जब तेज गन्ध वाला नमक दिया जाता तब आराम मिलता और थोड़ी देर में ही उन्हें नीद आ जाती और रात भर सोते रहते। सुबह जब वह सो कर उठते उस समय बीमारी का

नामो निशान भी नही होता था। अगले दिन 10 बजे रात तक वह अपनी दिनचर्या नियमित रूप से करते रहते थे। लेकिन रोग के आक्रमण से वह दिन पर दिन कमजोर होते जा रहे थे। उनकी जब यह हालत थी, तभी किसी बीमारी के कारण रमाबाई को एक बड़ा आपरेशन करवाना पड़ा। रानडे के लिये यह बड़ा कष्टदायक सिद्ध हुआ। रमाबाई ने लिखा है, "आपरेशन से एक दिन पहले वह रात को खाना खा कर आए और मेरे पास बैठ गये। उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथ में लिया और एकटक शून्य निगाहों से मेरी ओर देखने लगे। मुझे पता नही कि कितनी देर वह इस तरह मेरे पास बैठे रहे। उस रात भी वह अच्छी तरह नहीं सो सके। सारी रात करवटें बदलते रहे और धीरे-धीरे राम-राम कहते रहे। मैंने सोचा कि अगर मैं अगले दिन मर गई तो वह इस दुख को सहन नहीं कर सकेंगे।" लेकिन आपरेशन सफलतापूर्वक हो गया। मैं मरी नहीं, बच गई और धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ भी कर लिया।

बीमारियों के कारण रानडे का स्वास्थ्य गिरता जा रहा था लेकिन उनके काम और क्रिया-कलाप पहले की तरह ही चलते जा रहे थे। जिस समय उन्हें बेचैनी होती या उनके दर्द हो रहा होता, केवल उसी समय उनका काम रुकता था। इन्हीं दिनों पेशवा की डायरियों पर आधारित उन्होंने दो शोधपत्र लिखे। उनकी पुस्तक 'राइज़ आफ दी मराठा पावर' सन् 1900 में प्रकाशित हुई, 'चीनी उद्योग' के विषय में एक लेख उन्होंने 'टाइम्स आफ इंडिया' के लिए लिखा। नासिक जाकर उन्होंने केतकर टाउनहाल में उद्घाटन भाषण दिया। सदा की ही भांति वह कांग्रेस और सोशल कांफ्रेंसों के सत्रों में भाग लेते रहे और सोशल कांफ्रेंस के अधिवेशन में अपने विद्वत्तापूर्णवार्षिक भाषण भी पढ़ते रहे।

रमाबाई के आपरेशन से एक दिन पहले ऐसा मालूम हुआ कि रानडे की नई बीमारी बिल्कुल ठीक हो गई है। उनकी नसों में ऐंठन भी उस रात नहीं हुई। इसके तीन सप्ताह बाद दिवाली थी। छुट्टियों के कारण कोर्ट बन्द हो गये। उन्होंने माथेरान नामक पहाड़ी स्थान में जाने का निश्चय किया। लेकिन डाक्टरों ने कहा कि रमाबाई को सफर नही करना चाहिए। पर रमाबाई चाहती थी कि उनके पति कुछ दिन शान्त पहाड़ी स्थान पर जाकर आराम करें। अतः उनके आग्रह पर रानडे उन्हें बम्बई छोड़कर माथेरान चले गये। माथेरान पहुंचने के एक सप्ताह बाद ही रानडे ने उन्हें चिट्ठी लिखी कि उनकी पुरानी बीमारी फिर से उखड़ आई है। ठीक उसी समय फिर ऐंठन होने लगी है और वह पन्द्रह बीस मिनट तक रहती है। रमाबाई ने अपने स्वास्थ्य का बिल्कुल ख्याल नहीं किया और तुरन्त माथेरान के लिए चल पड़ीं। बच्चों को भी वह अपने साथ ले गईं। रानडे को कुछ आराम मिला। बच्चों के साथ उनका मन बहला और पत्नी की उपस्थिति से उनको चैन और सुख मिला। जब वे लोग वापस बम्बई आए तब रानडे ने कई डाक्टरों से बीमारी का नाम पूछा। लेकिन किसी ने स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। तब उन्होंने मेडिकल कालेज से कुछ किताबें मंगवाईं और छानबीन शुरू कर दी।

एक दिन दो डाक्टर उन्हें देखने के लिए आए। उन्होंने डाक्टरों से कहा, "यदि आप लोग मुझे मेरी बीमारी का नाम नहीं बताना चाहते तो मत बताइए, मैं आग्रह भी नहीं करूंगा। लेकिन आशा है कि इलाज आप लोग ठीक-ठाक कर रहे हैं।" उन्होंने देखा कि उनके इतना कहने पर भी डाक्टर लोग चुप थे। तब रानडे ने कहा, "अच्छा ठीक है, आप लोग अगर नही बताते तो मैं ही आपको बीमारी का नाम बतलाता हूं। क्या यह बीमारी ऐंगीना पेक्टोरिस (हृदय की बीमारी) नहीं है?"

24 नवम्बर सन् 1900 को फ्रामजी कोवासजी संस्थान में रानडे ने दादा भाई नौरोजी की प्रतिमा का अनावरण किया। वह उनका अन्तिम सार्वजनिक भाषण था। दादा भाई के महान गुणों का वर्णन करने तथा उनकी देश-सेवा के विषय में उनकी प्रशंसा करने के बाद रानडे ने कहा "जीवन की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए, नवीन भारत में जाति, वर्ग, और धर्मभेद आदि के लिए कोई स्थान नहीं रह जाएगा। हम सब की यह आकांक्षा है कि हर परिस्थिति में हम भारतीय पहले रहें और भारतीय ही अन्त में रहें। हम उन सभी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करेंगे, जिनके कारण हम एक दूसरे से अलग हो गए और अखिल भारत का निर्माण असंभव हो गया।" रानाडे ने कहा, "राजनीतिक विकास की तत्कालीन परिस्थितियों में दादा भाई ने पूर्ण रूप से देश के हित के लिए अपने कर्त्तव्य का पालन किया है।" प्राचीन भारत को तो हम कभी वापस लाने की आशा नहीं कर सकते, लेकिन भावी भारत का निर्माण हमारे ऊपर निर्भर है। हम उसे चाहे जैसा बना सकते हैं, चाहे जैसे साँचे में ढाल सकते हैं।"

सन् 1900 के पूरे वर्ष रानडे का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा, फिर भी लाहौर के कांग्रेस अधिवेशन में जाने को वह बहुत इच्छुक थे। अस्वस्थ होने पर भी सोशल कान्फ्रेंस की भारी-भारी रिपोर्टें पढ़ डालीं। पूरे देश में लोगों को लम्बे-लम्बे पत्र लिख डाले तथा विभिन्न सोशल संस्थाओं से प्राप्त रिपोर्टों के आधार पर संक्षिप्त रिपोर्ट बनाई। जैसे-जैसे सोशल कान्फ्रेंस की तारीख निकट आती जाती थी, रानडे कई-कई घंटे लगातार बैठ कर काम करते थे। अपना वार्षिक भाषण लिखते, सभी प्रान्तों के कार्य के संक्षिप्त विवरण तैयार करते तथा नए विचार लिपिवद्ध करने में वे पूरा-पूरा दिन लगा देते थे। कान्फ्रेंस में पढ़ने के लिए उन्होंने 'वशिष्ठ और

विश्वामित्र' शीर्षक से एक लेख लिखा। यह निश्चय किया गया कि वह अपनी पत्नी और अपनी दत्तक पुत्री साखू के साथ लाहौर जाएंगे। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा, "कल जब पूना से लोग आएगे तब मैं उनसे कहूंगा कि हमारी सीटें रिजर्व करा दें। लाहौर में बहुत जाड़ा पड़ता है। काफी गरम कपड़े ले चलना, खासतौर से साखू के लिए।"

रानडे के साथ लाहौर जाने के लिए गोखले तथा कुछ और लोग पूणे से आए। टिकट खरीद लिए गए और सीटें रिजर्व करवा ली गईं। सारे दिन रानडे काम करते रहे और लोगों से बातचीत करते रहे। पूरे दिन आराम भी बिल्कुल नही किया। रोज की तरह उस दिन भी रात को ऐंठन शुरू हो गई। लेकिन उस दिन वह बहुत ही तीव्र थी और बहुत देर तक रही। उन्हें नींद नही आई फिर छाती में जोर का दर्द उठा। उनसे लेटा भी नही जा रहा था। सारी रात ऐसे ही बीत गई। सुबह छः बजे उन्हें कुछ आराम मालूम हुआ।

ऐसी हालत में उनका लाहौर जाना मुल्तवी कर दिया गया। लाहौर के आयोजकों को उन्होंने तार द्वारा सूचना दी कि मैं अधिवेशन में भाग नही ले सकूंगा। गोखले तथा अन्य मित्रों को उन्होंने तार पढ़कर सुनाया और कहा, "अठारह वर्षों के बाद कांग्रेस और सोशल कान्फ्रेंस के अधिवेशन में पहली बार ऐसा हुआ है कि मै भाग नही ले रहा हूं।" दुःख और अफसोस से उनका गला रुंध गया और उनकी आंखों से आसू बहने लगे। सोशल कान्फ्रेंस के अधिवेशन में जो उनका निबन्ध पढ़ा जाने वाला था वह गोखले को दे दिया गया।

रानडे की हालत दिन-प्रति-दिन बिगड़ती ही गई। उन्होंने छः महीनों की छुट्टी के लिए अर्जी भेजी और उसके बाद अवकाश प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। वह बहुत गंभीर हो गए, बहुत थोड़ा बोलते और शान्ति से कष्ट सहने लगे। उन्होंने अपनी इच्छा शक्ति से

शारीरिक कष्टों पर विजय प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। ऐंठन रोज होती एक ही समय पर होती, लेकिन अधिक कष्टदायक होती और अधिक देर तक रहती थी। अब स्वस्थ होने की आशाएं टूटने लगीं।

16 जनवरी सन् 1901 को अन्तिम समय आ पहुंचा। ऐंठन बहुत तीव्र थी–14 जनवरी से भी कहीं अधिक तीव्र और बहुत देर तक होती रही। सारी रात वह सो नहीं सके। दूसरे दिन सुबह उनका मुंह बिल्कुल पीला पड़ गया और पैरों में सूजन बढ़ गई। सोलह तारीख की शाम को वह अपनी पत्नी और भाई के साथ मोटर कार में घूमने के लिए निकले। घर वापस आने पर उन्हें अपने एक मित्र, कान्तिचन्द्र मुकर्जी की जो जयपुर के दीवान थे, की मृत्यु का समाचार तार द्वारा मिला। वह कहने लगे, "काम करते-करते ही मर जाने में बड़ा सुख है।" इसके बाद वह एक विधवा के विवाह के विषय में बातचीत करते रहे, जो थोड़े ही दिन बाद होने वाला था। खाना खाने के बाद उनकी बहन ने भजन गाए। इसके बाद जस्टिस मेकार्थी की लिखी 'हिस्ट्री ऑफ आवर ओन टाइम्स' निकाल कर पढ़ने के लिए बैठे ही थे कि जोर से ऐंठन शुरु हो गई। पास में ही एक डाक्टर रहते थे। जल्दी से उन्हें बुलाया गया। डाक्टर ने देखा कि अब कोई इलाज नहीं हो सकता। ऐसे तेज दर्द और ऐंठन मे रानडे थोड़ी देर तक और रहे और फिर उनकी जीवनलीला समाप्त हो गई।

उनकी मृत्यु का समाचार तुरन्त ही भारत के कोने-कोने में फैल गया। दफ्तर, स्कूल और बाजार सब इस शोक समाचार को सुनकर बन्द कर दिए गए। दूसरे दिन उनकी शव-यात्रा में हजारों लोगों ने भाग लिया। उनके पार्थिव शरीर के दाह-संस्कार के समय, श्मशान घाट पर उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलियां अर्पित की गईं।

उपसंहार

महादेव गोविन्द रानडे का व्यक्तित्व एक ऐसे महान् व्यक्तित्व को प्रकाश में लाता है, जो एक साथ ही प्रभावशाली, प्रेरणाप्रद और उदात्त था। अपनी प्रखर बुद्धि से उन्होंने अपने समय के सभी सामाजिक क्षेत्रों में पूर्ण पारंगति प्राप्त कर ली थी। उन्होंने समाज की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं की विशुद्ध व्याख्या की और सभी सच्चे और विचारशील कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन किया। देश हित के लिए निरन्तर काम करते और उसके ही विषय में अनवरत रूप से विचार करने में संलग्न रहने के कारण वह अपने समय के छोटे-बड़े सभी लोगों के लिए प्रेरणा के स्रोत बन गए थे। अपने भाषणों और रचनाओं के भव्य और उदात्त विचारों और भावों के द्वारा उन्होंने अपने श्रोताओं और पाठकों की नैतिकता और आदर्शवादिता को बहुत ऊंचा उठा दिया था।

अपने देश की उन्नति और विकास के जो भी कार्य उन्होंने किए, उनका विवरण उनसे उम्र में छोटे दो समकालीनों तिलक और गोखले ने बहुत अच्छी तरह दिया है। 'केसरी' में रानडे की मृत्यु के समाचार लिखते हुए तिलक कहते हैं, 'उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पूना बिल्कुल निर्जीव था, मुर्दा था और पूरे महाराष्ट्र को ही ऐसी हालत थी। लोग घबराए हुए थे, उन्हें कुछ समझ में नहीं आता था कि क्या करें और क्या न करें। उन्हें

था कि वर्तमान परिस्थितियां पहले से अच्छी हैं या बुरी। महाराष्ट्र हाड़-मांस का एक ठंडा पिंड बनकर रह गया था। यदि किसी व्यक्ति ने दिन रात उत्सुकता से यह सोचा-विचारा कि किस प्रकार उसे गर्मी पहुंचा कर जीवित किया जाए, यदि किसी व्यक्ति ने उसे जीवन प्रदान करने के लिए पूरी तत्परता से काम किया और हर सम्भव उपाय किए, और यदि किसी व्यक्ति ने घोर परिश्रम करके अपने देश को ऊंचा उठाने के लिए अपने शरीर को जर्जर बना दिया, तो वह व्यक्ति रानडे था। हम समझते हैं कि उनकी अद्वितीय महानता की यही मुख्य विशेषता है।"

सन् 1904 में भाषण देते हुए गोखले ने कहा, "रानडे अत्यन्त महान और अत्यन्त भले व्यक्ति थे। वह एक महान विद्वान कार्यकर्ता और अपने व्यक्तिगत जीवन में संत प्रकृति के व्यक्ति थे। बल्कि वे इससे भी अधिक थे। वह उन महान व्यक्तियों में से थे, जो समय-समय पर, भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न अवसरों पर, हमारी कमजोर और बहकी हुई मानवजाति को सही दिशा दिखाने के लिए प्रकाश के रूप में आते है। जीवन में उनका एक ध्येय था वे नए सिद्धान्तों के उपदेशक थे। उन्होंने हमारे विचारों को नई प्रेरणा दी और हमारे हृदयों में नई आशा का संचार किया। उनका ध्येय था—सर्वज्ञ ईश्वर के विधान में जो नई-नई बातें अस्तित्व में आई थी, उन्हें समझाना हमें नई व्यवस्था का अर्थ बताना और यह समझाना कि वह हमारे लिए कैसे अवसर प्रदान करेगी, हम पर क्या-क्या जिम्मेदारियां डालेगी तथा यदि हम परिश्रम से पीछे न हटे तो हम को क्या-क्या लाभ होगा। अपने सन्देश को हम तक पहुंचाने के लिए उनमें उच्च कोटि के गुण थे। जो मनुष्य अत्यधिक बुद्धिमान हो, जिसका हृदय देश प्रेम से लबालब भरा हो, जिसके अन्दर ईमानदारी और निर्भीकता हो, जिसमें काम

करने की अपार सामर्थ्य हो, अपरिमित धैर्य हो और विधाता के विधान में इतना अटूट विश्वास हो जो कि किसी प्रकार हिल न सके वही मनुष्य अपने देशवासियों के विचारों, आशाओं और आकांक्षाओं को ढालने में समर्थ हो सकता है।"

रानडे की मृत्यु के छियालीस वर्ष बाद भारत राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र हुआ। अब हम उनकी इस शिक्षा के महत्व को भलीभांति समझे हैं कि यदि विकास होता है, तो वह सर्वतोमुखी होना चाहिए; यदि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है तो उसके साथ सामाजिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त करनी चाहिए और स्वतन्त्रता का अर्थ है अपने ही निम्न और कमजोर स्वभाव के बन्धनों से अपनी ऊंची कृतियों को मुक्त करना।

रानडे ने जिन शब्दों में अपने स्वप्न के भावी भारत का चित्र प्रस्तुत किए, उन्हें हम एक पिछले अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं। यहां उनकी पुनरावृत्ति करना आवश्यक है, क्योंकि वह सुहावना सपना अभी साकार होना बाकी है और उसी में उस मानक का भी निर्देश है जिससे राष्ट्र की प्रगति नापी जानी है। रानडे ने कहा—"स्वतन्त्र व्यक्तित्व, उल्लासपूर्ण आशा, कर्तव्य पालन में अटूट विश्वास, सबके साथ न्याय करने की भावना स्वच्छ और परिष्कृत विचार और सबके लिए असीम प्रेम, जब ये सद्गुण हममें आ जाएंगे और तब भारत नया हो जाएगा पुनर्जीवित हो जाएगा और संसार के राष्ट्रों के बीच उचित स्थान प्राप्त करेगा तथा परिस्थिति और अपने भाग्य का विधाता बनेगा। हमें इसी लक्ष्य को प्राप्त करना है—यही हमारी प्रतिज्ञा है। जो लोग ऐसे भविष्य के स्वप्न देखते हैं वे भाग्यशाली हैं। जो लोग उस स्वप्न को साकार करने के लिए कार्यरत हैं और लक्ष्य को प्राप्त करने का रास्ता साफ कर रहे हैं वे उनसे अधिक भाग्यशाली हैं, और सबसे अधिक भाग्यशाली वे हैं

जो उस साकार स्वप्न को अपनी आंखों से देखने और देश की पवित्र भूमि पर अपने पैर रखने के लिए जीवित रहेंगे। और तब दुर्भिक्ष और महामारी, दमन और कष्ट पुराने जमाने की कहानियां बन कर रह जाएंगी और पौराणिक काल की भांति ही देवता फिर पृथ्वी पर उतर कर आएंगे और मनुष्यों से मिल-जुलकर रहेंगे।"